जीवन दर्शन

मानवता में ही पूर्णता निहित है

त्याग

प्रेम

सेवा

मानव सेवा संघ

वर्ष ६

विषय-सूची

विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग विकास की भूमि है ।

जीवन-दर्शन

उद्देश्य

मानव-जाति के सर्वतोमुखी विकास की तथा कर्तव्य-परायणता एवं साधन–निष्ठ जीवन की प्रेरणा देना।

वर्ष ६] वृन्दावन, सितम्बर १९७१ [अंक ९

निस्संकल्पता

★

यस्य स्युर्वीतसंकल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम्
वृतयः स विनिमुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः।
यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किंचिद्यदृच्छया,
अर्च्यतेवा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः ।

––श्रीमद्भागवत ११. ११. १४, १५.

अर्थ—जिसके प्राणों, इन्द्रियों, मन और बुद्धि की वृत्तियाँ बिना संकल्प के ही होती हैं, वह देह में स्थित रहकर भी उसके गुणों से मुक्त रहता है।

उस ज्ञानी के शरीर को चाहे हिंसक लोग पीड़ा पहुचाएं, चाहे कोई अकस्मात् उसकी पूजा करे, उसमें कभी कोई व्यतिक्रिया नहीं होती ।

व्याख्या—जब तक मानव का शरीर के साथ तादात्म्य रहता है, तब तक वह प्रकृति के गुणों—सत्त्व, रज और तम––का दास बना रहता है। तादात्म्य-काल में इन्द्रियों द्वारा भोगे हुए विषयों से उसका राग रहता ही है, मन में उन्हें पाने का संकल्प उठता ही है और इस प्रकार कामनाएं उत्पन्न होती ही रहती हैं। राग के प्रभाव के कारण बुद्धि अपने विवेक को खो देती है और कामनाओं का विरोध करने के बजाय उनकी प्राप्ति के उपाय सोचने में लग जाती है । इस प्रकार

कर्मेन्द्रियाँ और सारा शरीरतन्त्र, प्राणों से शक्ति प्राप्त कर कामना-पूर्ति के प्रयास में लगा रहता है। यद्यपि शरीर की सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं गुणों के प्रभाव से, पर शरीराभिमानी मानव अपने को इन सब प्रवृत्तियों का कर्ता और क्रिया-जनित रस के साथ ही साथ क्रिया-द्वारा प्राप्त विषयरस का भी भोक्ता मानता रहता है । कामनाओं का ताँता कभी टूटता नहीं, उनकी पूर्ति-अपूर्ति का चक्कर कभी रुकता नहीं और मानव प्राप्त सुख-दुख भोगता हुआ संसार-चक्र में पड़ा भटका करता है। यही है उसका बन्धन और तादात्म्य-जनित संकल्पात्मक जीवन ही है उसका कारण ।

कारण दूर होने पर ही उसके कार्य का अभाव होता है, अतः तादात्म्य टूटने अर्थात् शरीर से असंगता प्राप्त होने पर ही मानव का बन्धन कट सकता है । असंगता-प्राप्ति के दो ही पथ हैं । एक पथ है अपने विवेक का आदर कर ममता, कामना और अहंकृति का नाश करना, क्योंकि तादात्म्य इन्हीं के रूप में प्रकट होता है और इनका त्याग कर देने पर वह समाप्त हो जाता है तथा असंगता आ जाती है। असंगता-प्राप्ति का दूसरा पथ है भगवत्समर्पित जीवन, जिसको स्वीकार करने से असंगता भगवत्कृपा से स्वतः आ जाती है । जैसे तादात्म्य में संकल्पात्मक जीवन निहित है, वैसे ही असंगता में निस्संकल्पता निहित है । अतः असंगता की अभिव्यक्ति होने पर मानव के प्राण, मन, इन्द्रियाँ और बुद्धि द्वारा होने वाली सभी शारीरिक प्रवृत्तियाँ "वीतसंकल्प" हो जाती हैं; अतः मानव न उनका कर्ता रहता है और न उनके द्वारा प्राप्त फलों का भोक्ता ही । वह तीनों गुणों के ऊपर उठ जाता है और शरीर के रहते हुए ही वह संसार-चक्र से निकल जीवन मुक्त हो जाता है । सारांश यह है कि शरीर के साथ तादात्म्य का व्यवहारात्मक पहलू है संकल्पात्मक जीवन और वही बन्धन है तथा असंगता का व्यवहारात्मक पहलू है निस्संकल्पता और वही जीवन-मुक्ति है । इसी तथ्य की ओर संकेत है यहां उद्धृत पहले श्लोक में ।

दूसरे श्लोक में बताया गया है कि संकल्परहित जीवन में समता स्वतः आजाती है । संकल्पात्मक जीवन में तो मानव-हृदय आशाओं और आशंकाओं से भरा रहता है। आशा पूर्ण होने पर प्रसन्नता होती है तथा आशंका सत्य होने पर खिन्नता और जीवन द्वन्द्वों से परिपूर्ण रहता है। राग और द्वेष, हर्ष और शोक, मान और अपमान, निन्दा

और स्तुति आदि द्वन्द्व मानव को अशान्त बनाये रखते हैं। ये द्वन्द्व कामनापूर्ति-अपूर्ति के ही, संकल्पात्मक जीवन के ही फल होते हैं । संकल्प-रहित जीवन में इनके लिए कोई स्थान ही नहीं होता । जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसके जीवन पर सुखद-दुखद परिस्थितियों का प्रभाव भी नहीं हो सकता । उसे हिंसक कितनी ही पीड़ा पहुँचाये, वह क्षुब्ध नहीं होता। सारा संसार ही चाहे उसकी पूजा करने लग जाय, वह हर्षातिरेक से फूल नहीं उठता । अखण्ड शांति, समता और एकरसता उसका जीवन बन जाती है ।

समता ही पहचान है निस्संकल्पता की । साधक को इस पहचान से आत्म-निरीक्षण में बड़ी सहायता मिलती है। यदि जीवन में समता नहीं आई, कुछ हर्षित करता है और कुछ खिन्न, तो विचार-पथ के साधक को समझना चाहिए कि अभी कामनाएं शेष हैं, राग बना हुआ है। इस प्रकार के आत्म-निरीक्षण द्वारा साधक अपना पथ-प्रदर्शक, अपना गुरु स्वयं बन सकता है ।

★

संकल्प-पूर्ति का सुख उतने ही काल तक भासता है कि जब तक दूसरा संकल्प उत्पन्न नहीं होता। संकल्प-पूर्ति से जो परिस्थिति उत्पन्न होती है, उसकी उपस्थिति में ही नवीन संकल्प की उत्पत्ति से संकल्पपूर्ति का सुख मिट जाता है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति-मात्र में सुख है, उससे उत्पन्न हुई परिस्थिति में कुछ नहीं । संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्प की उत्पत्ति में समर्थ है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति का परिणाम क्षणिक सुख और उसके आदि और अन्त में घोर दुःख है । इस रहस्य को जान लेने पर संकल्प-पूर्ति का कुछ महत्त्व ही नहीं रहता, जिसके मिटते ही संकल्प निवृत्ति अर्थात् योग स्वतः प्राप्त होता है।

(चित्त शुद्धि से)

सन्त-वाणी

जीवन में विवेक के आदर का स्थान

[दिनाङ्क १०-१०-५६ को श्रीस्वामीजी महाराज का रांची में दिया हुआ प्रवचन]

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन !

प्रतिदिन की भाँति अब हमें और आपको कुछ देर के लिए शान्त होना है। प्राकृतिक नियम के अनुसार सुनने के लिए चुप रहना बहुत आवश्यक है। जो भाई-बहिन कथाओं में, सत्संग में जाकर चुप नहीं रह पाते, वे अपनी भी क्षति करते हैं और दूसरों की भी। भाई, इसमें रहस्य की बात यह है कि आप जितनी देर शान्त रहते हैं उतनी देर, श्रम-रहित होने से, आपको यथेष्ट विश्राम मिलता है और विश्राम मिलने से आवश्यक शक्ति का विकास अपने आप होता है, यह वैज्ञानिक सत्य है। इसलिए हम सब को प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में पूर्ण शान्त रहना चाहिए। जो लोग कार्य के आदि और अन्त में शान्त रहते हैं उनके जीवन में कार्य करने की शक्ति अपने आप आ जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक कार्य के अन्त में भी शान्ति अपेक्षित है। कार्य के अन्त की जो शान्ति है वह आपको, जितने कार्य हैं उनसे अतीत की ओर प्रेरित करने में समर्थ होती है। इस दृष्टि से लोक और परलोक दोनों की उन्नति के लिए हम सब भाई-बहिनों को शान्त रहना अनिवार्य है।

कल सेवा में विवेक के आदर और बल के सदुपयोग का स्वरूप निवेदन किया गया था। आज, अपने-अपने व्यक्तिगत-जीवन में हम विवेक का आदर किस प्रकार कर सकते हैं, इस सम्बन्ध में चर्चा करने की बात है। यह सर्वमान्य है कि प्रत्येक भाई और बहन सत्य को चाहे भले ही न जानता हो परन्तु अपने प्रति होने वाले असत्य को वह अवश्य ही जानता है, अथवा किसी न किसी प्रकार के असत्य का ज्ञान प्रत्येक भाई-बहन को है। यह बात किसी

मत की नहीं है, न किसी सम्प्रदाय की, न किसी विचार-धारा की और न किसी वर्ग की, अपितु मानव-मात्र की बात है। ऐसा कोई मानव नहीं है जो किसी-न-किसी प्रकार के असत्य को न जानता हो। सभी लोग, चाहे वे किसी देश के हों, किसी दल के हों, किसी पद्धति पर विश्वास करते हों, परन्तु किसी-न-किसी अंश में, वे असत्य को जानते ही हैं। यदि असत्य का ज्ञान न होता तो अपने प्रति जब कोई असत्य बात होती है, तब उसमें हम सबको अरुचि क्यों हो जाती है ? इससे यह स्पष्ट है कि हम सभी को किसी-न-किसी अंश में असत्य का ज्ञान है। तो मानव सेवा संघ की साधन-प्रणाली के अनुसार प्रत्येक मानव के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने जाने हुए असत्य का, किसी के बताये हुए असत्य का नहीं, किसी के सिखाए अथवा सुने हुए असत्य का नहीं, अपितु अपने जाने हुए असत्य का त्याग कर दे। इसका फल यह होगा कि असत्य का त्याग करते ही सत्य का सङ्ग हो जायगा। यह नियम है कि सत्य से अभिन्नता और असत्य से सम्बन्ध अथवा उसमें आसक्ति होती है। आसक्ति से एकता कभी नहीं होती, यह बड़ा भारी सत्य है। इसी सत्य के आधार पर किसी भी व्यक्ति को आपने सर्वांश में दोषी कभी नहीं देखा होगा। कोई कितना ही बड़ा चोर हो, पर वह सभी के लिए चोर नहीं, कोई कितना ही बड़ा बेईमान हो, लेकिन वह सभी के लिए बेईमान नहीं, कोई कितना ही बड़ा हिंसक क्यों न हो, पर वह सभी के लिए हिंसक नहीं है। तो इससे यही सिद्ध होता है कि कोई भी भाई, कोई भी बहन सर्वांश में कभी दोषी नहीं होते, अर्थात् असत्य से सर्वांश में अभिन्नता किसी की नहीं होती। सर्वांश में जब हम असत्य के साथ घुल-मिल नहीं सकते, तो जिसके साथ घुल-मिल नहीं सकते उससे असङ्ग हो सकते हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक भाई-बहन को अपने जाने हुए असत्य का त्याग करना और असत्य के त्याग से स्वभाव से ही, बिना प्रयत्न के, सत्य का संग हो जाता है। ऐसी बात नहीं है कि असत्य के त्याग के लिए हम अलग प्रयास करेंगे और सत्य के संग के लिए अलग प्रयास करेंगे। असत्य के त्याग के लिए जो प्रयास किया जायगा उसी प्रयत्न से, अपने आप सत्य का संग हो जायगा। और जब सत्य का संग हो जाता है तब फिर उससे कभी भिन्नता नहीं होती, भेद नहीं होता। सत्य और असत्य में यही एक बड़ा अन्तर है। असत्य चाहे जितना पुराना हो, चाहे जितने दिन से हम बुरे से बुरे हो गये हों, लेकिन असत्य का त्याग करने-मात्र से वह मिट जाता है और

सत्य का संग होने-मात्र से वह प्राप्त हो जाता है । इस दृष्टि से यदि हम और आप विचार करें, तो प्रत्येक भाई और बहन के जीवन में एक नवीन जीवन का संचार हो जाता है, किस बात के लिए ? इसके लिए कि हम सब अपने-अपने जाने हुए असत्य के त्याग में समर्थ हैं, स्वाधीन हैं और जो असत्य के त्याग में स्वाधीन और समर्थ है, वह सत्य की प्राप्ति में भी स्वाधीन और समर्थ है।

किन्तु अब विचार यह करना है कि उस अपने जाने हुए असत्य के त्याग के लिए हमें अपने दैनिक जीवन में उसका प्रयोग कैसे करना चाहिए। वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति में साधन करने की सामर्थ्य और योग्यता स्वभाव से ही विद्यमान है, फिर भी जिस भावना को लेकर हम सब एकत्र हुए हैं उसमें ऐसा कहना आवश्यक हो जाता है कि आप लोगों को यह निवेदन, यदि उचित लगे और यह सत्य यदि आपको अपना सत्य मालूम हो तो, भाई, इस बात का प्रयास करें कि हमारे और आपके दैनिक जीवन में असत्य के त्याग की और सत्य के संग की योग्यता आ जाय अथवा वह हमारा जीवन ही बन जाय । आप जानते हैं कि जो चीज आवश्यक होती है उसका त्याग नहीं हो सकता, जैसे कुछ घंटों की भूख को दूर करने के लिए हमें नित्य भोजन करना पड़ता है और कुछ वर्षों तक शरीर को रखने के लिए बड़े-बड़े प्रयास करने पड़ते हैं-- यह जानते हुए भी कि आपका कोई प्रयास ऐसा नहीं है कि भूख सदा के लिए विदा हो जाय या प्यास सदा के लिए बिदा हो जाय या श्वास लेने की आवश्यकता न रहे या शरीर को रखने की रुचि का नाश हो जाय। यह सम्भव नहीं है, लेकिन यह जानते हुए भी कि ऐसा होना सम्भव नहीं है, हम फिर भी उसके लिए प्रयास करते हैं । किन्तु सत्य का संग हो जाने से तो असत्य सदा के लिए मिट जाता है और सत्य सदा के लिए प्राप्त हो जाता है। तो जिसकी प्राप्ति सदा के लिए हो और जिसकी निवृत्ति सदा के लिए हो, उसके लिए हम प्रत्येक क्षण प्रयत्नशील न हों तो आप सोचिये कि, इससे बढ़कर हमारी और आपकी असावधानी क्या हो सकती है । सब से बड़ी असावधानी जीवन में हमसे यही होती है कि हम सत्सङ्ग से एकता स्वीकार नहीं करते, अथवा यों कहो कि सत्सङ्ग को अपने दैनिक जीवन का अनिवार्य अङ्ग नहीं मानते । उसीका परिणाम यह हुआ कि हम लोग ऐसा प्रश्न किया करते हैं कि 'क्या बताएँ, जानते तो सब हैं, पर कर नहीं पाते ।' इसमें और कोई नहीं, केवल यही बात हेतु है कि जो सत्सङ्ग हमें प्रतिदिन करना

चाहिए था—प्रत्येक भाई-बहन को व्यक्तिगत रूप से करना चाहिए था, सामूहिक रूप से करना चाहिए था, उस सत्सङ्ग को हम लोग कभी-कभी करते हैं और वह भी इस रूप में करते हैं कि सत्य की चर्चा-मात्र को सत्सङ्ग मान लेते हैं। मानव सेवा संघ की प्रणाली में प्रत्येक भाई-बहन को, प्रत्येक दशा में, प्रत्येक अवस्था में प्रतिदिन सत्संग करना अनिवार्य है। उसकी विधि क्या है ? उसकी विधि यह नहीं है कि आप जो नहीं जानते उसके जानने का प्रयास कीजिये। उसकी सीधी-साधी विधि है कि जब आपके सारे कार्य समाप्त हो जायँ और जब आप विश्राम-काल में हों, उस समय आप अपने किये हुए कार्यों पर अपने विवेक से दृष्टि डालें। यह जानने का प्रयत्न न करें कि यह बुद्धि का ज्ञान है अथवा हमारा अपना ज्ञान है। इस झगड़े में पड़ गये तो बड़ी उलझन हो जायगी। आजकल हम लोग अपने जीवन की चर्चा करते हैं और इस ढंग से चर्चा करते हैं मानो मन किसी और का हो और उस पर हम बात कर रहे हैं, मानो बुद्धि किसी और की है उस पर हम बात कर रहे हैं, मानो शरीर किसी और का है, उस पर हम बात कर रहे हैं और अपने को उससे जिसके सम्बन्ध में चर्चा कर रहे हैं, हम अलग सा मान रहे हैं। उसका परिणाम यह होता है कि आज का सत्सङ्ग पर-चर्चा का साधन बन जाता है, अथवा योग्यता सम्पादन का साधन बन जाता है, परन्तु हमारे जीवन पर उसका पूरा-पूरा प्रभाव नहीं होता। इस निर्बलता को मिटाने के लिए मानव सेवा संघ की प्रणाली में यह बात बताई गई कि हम लोग अपने जाने हुए असत्य का त्याग करें, सुने हुए का नहीं, सीखे हुए का नहीं। यदि सुने हुए और सीखे हुए का भी त्याग कर दें, तो इसमें भी कोई आपत्ति की बात नहीं, लेकिन इसमें तो एक दूसरे का विरोध न होगा।

आप कहेंगे कि हम इसको नहीं मानते, कोई दूसरा कहेगा कि हम इसको मानते हैं। किन्तु मानव सेवा संघ की जो साधन-प्रणाली है उसमें आपको बाध्य नहीं किया जायगा कि आप उसे मान ही लीजिये। हाँ, इस बात के लिए आपसे प्रार्थना की जायगी कि भाई, जो आपका अपना जाना हुआ असत्य है, जिसे आप सचमुच असत्य जानते हैं, उस असत्य का आप त्याग करें। आप पूछेंगे कैसे त्याग करें, तो विश्राम काल में जब आप निद्रा के लिए तैयार हो रहे हों, अथवा जब आप विश्राम कर रहे हों, उस समय सोचें कि हमारे द्वारा जो कुछ हुआ है उसमें, हमारे अपने ही ज्ञान का विरोध तो नहीं है ? यदि आपको अपने ज्ञान का

विरोध दिखाई दे, तब आप यह संकल्प करें, यह प्रतिज्ञा करने का प्रयास करें कि भाई, अब हम ऐसी बुराई दोहरायेंगे नहीं, जो बुराई हमसे हो चुकी है उसे दोहरायेंगे नहीं। परन्तु हम करते यह हैं कि भूतकाल के दोषों के आधार पर अपने को दोषी मानते रहते हैं, अर्थात् अपनी निन्दा करते रहते हैं और जब खीझ जाते हैं तब दूसरों की निन्दा करने लगते हैं। इसी में अपनी सारी योग्यता खत्म हो जाती है और ऐसा करते-करते प्राण पखेरू उड़ जाते हैं और हम ज्यों-के-त्यों दोषों का चिन्तन करते हुए ही रह जाते हैं। इसीलिए भाई, हमें अपने जाने हुए दोषों का चिन्तन नहीं करना है, अपितु उनके न दोहराने का दृढ़ संकल्प करना है। आप पूछेंगे कि सोते समय अथवा विश्राम-काल में ही ऐसा क्यों करना है, तो यह एक प्राकृतिक नियम है कि निद्रा के समय, अथवा विश्राम-काल में आपका जो सूक्ष्म-शरीर है वह कारण शरीर में विलीन होता है और स्थूल शरीर भी शान्त स्थिति में रहता है। इस समय जो संकल्प आप करेंगे वह पूर्ण संकल्प होगा, यानी उसमें स्थूल शरीर का भी सहयोग होगा और कारण शरीर का भी। यदि ऐसा सन्देह किया जाय कि स्थूल शरीर का सहयोग किस प्रकार होगा, तो आप एक बात देखिये कि स्थूल-शरीर का जो स्थिर होना है, स्थूल-शरीर की जो स्थिरता है वह सूक्ष्म-शरीर की स्थिरता में सहायक होती है और सूक्ष्म-शरीर की जो स्थिरता है वह कारण-शरीर से अभिन्नता उत्पन्न कर देती है, एकता उत्पन्न कर देती है। अतः इस अवसर पर किया हुआ हमारा जो संकल्प है वह उसमें जाकर विलीन हो जायगा कि जिसकी प्रेरणा से आप कार्य करते हैं। इसके सम्बन्ध में बड़े-बड़े मनोविज्ञानी उसके न जाने कितने विभाग कर-करके इस बात को तय करते हैं कि भाई, यह प्रवृत्ति इसलिए होती है कि वह अन्तर्मन में थी, बाहर मन में थी। कुछ लोग उसको संस्कार के नाम से कहते हैं और कुछ अनेक प्रकार से जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का फल मान लेते हैं। तो ये जो जन्म-जन्मान्तर के संस्कार होते हैं, अथवा इस जन्म की की हुई प्रवृत्तियों के फल होते हैं और जिस भूमि में वे संस्कार जमा रहते हैं, उसी भूमि में, भूल को न दोहराने का जो संकल्प था, वह उसी भूमि में जाकर अंकित हो जाता है और यह एक सर्वमान्य सत्य है कि जिस प्रकार छोटा प्रकाश बड़े प्रकाश से अपने आप नष्ट हो जाता है, जैसे दिन में बिजली जलाइये, तो उसका प्रकाश बिलकुल नहीं मालूम देगा, क्योंकि सूर्य का बड़ा प्रकाश बिजली के छोटे प्रकाश को

खा लेता है। उसी प्रकार यह एक बड़ा भारी वैज्ञानिक सत्य है कि शुद्ध संकल्प जो है, आवश्यक संकल्प जो है, दृढ़ संकल्प जो है, वह अशुद्ध संकल्पों को, आवश्यक संकल्पों को, अदृढ़ संकल्पों को अपने आप खा लेता है। पर हम ऐसा न करके केवल भूत-काल के दोषों के चिन्तन द्वारा उन दोषों की दृढ़ता पैदा करते रहते हैं।

देखिये भाई, दोषों की अपेक्षा दोषों का चिन्तन बड़ा ही भयंकर होता है, क्योंकि वर्तमान का चिन्तन ही भविष्य की सत्ता बनती है। इसलिए दोष-चिन्तन दोष से भी अधिक बुरा है, परन्तु दोष का जो ज्ञान है और उसको न दोहराने का जो व्रत है, वह निर्दोष बनाने का मुख्य साधन है, वास्तविक साधन है। इसलिए हम सब भाई-बहिनों को सोते समय अथवा विश्राम के समय अपने किये हुए कर्म की— बहुत पुराने की नहीं, जो स्मृतियाँ आती हैं कि हमने दो वर्ष पहिले यह भूल की थी और दस वर्ष पहिले यह भूल की थी, इस दो वर्ष और दस वर्ष पहिले की भूल की तो स्मृति आपको है लेकिन वर्तमान में जो भूल हुई है उसकी आपको स्मृति नहीं है, क्योंकि इस भूल-जनित सुख का तो आपने भोग किया है और किसी चीज का भोग होता है वह व्यक्ति को पराधीन बना देता है, उसको उस भोग के अधीन कर देता है। इसलिए वर्तमान भूल को न दोहराने का ही हम व्रत लें और भूतकाल की भूल के संबन्ध में उसके परिणाम पर विचार करें कि भाई, पहले हमसे जो भूल हुई थी उसका यह भयंकर परिणाम निकला। तो भूतकाल की भूल के परिणाम पर दृष्टि रखें और वर्तमान के भूल-जनित सुख का जो हमने भोग किया है उस पर विचार करके यह सोचें कि भाई, यह भूल अब हम नहीं दोहरायेंगे— क्यों नहीं दोहरायेंगे ? तो एक बात सोचिये और बहुत गम्भीरता पूर्वक सोचिये कि क्या हम अपने सम्बन्ध में यह चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारे साथ वह करें जो उन्हें नहीं करना चाहिए ? हर एक भाई यही कहेगा कि भाई, अपने साथ तो हम बुराई नहीं चाहते। तो भाई, अपने साथ जब बुराई नहीं चाहते तो दूसरे के साथ बुराई करने का साहस क्यों होता है ? इस बात को हम भूल जाते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि एक ओर तो हम यह कहते हैं कि भाई, हम जानते तो सब कुछ हैं और दूसरी ओर यह चाहते हैं कि जैसा जानते हैं वैसा मान तो लेते हैं, पर कर नहीं पाते और फिर इसके लिए अनेक बहाने ढूँढ़ते हैं। उन बहानों में एक प्रधान बहाना यह रखते हैं कि 'क्या बतायें, हमारे संस्कार ही अच्छे नहीं—बड़ा मुख्य बहाना है। भाई मेरे, संस्कार क्या हैं ? संस्कार

अहम्पूर्ण भूमि के अन्दर पड़ा हुआ बीज है। लेकिन अगर अहम्पूर्ण भूमि शुद्ध हो जाय, तो संस्कार आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। दूसरा बहाना यह है कि "हम क्या बतायें, जैसा हम जानते हैं वैसा सुन्दर कोई व्यक्ति हमने देखा ही नहीं, कोई उदाहरण तो हमने देखा ही नहीं, स्वामीजी तो बात करते हैं कि बच्चों से मोह नहीं करना चाहिए, स्वामीजी ने क्या बच्चे पैदा किये हैं, वह क्या जानें कि बच्चों के साथ कितना प्यार होता है।" ठीक है, लेकिन स्वामीजी यह तो जानते हैं कि माँ कितनी प्यारी होती है, यह तो जानते हैं कि माँ से कितना प्यार मिलता है। कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि भाई, एक बहाना हम यह करते हैं कि हमारे सामने ऐसा कोई उदाहरण दूसरे में दिखाई दे जाय, कोई ऐसा चित्र दिखाई दे जाय, तो शायद हम यह सोचें कि हम भी वैसा कर सकेंगे। तीसरा बहाना क्या ढूँढ़ते हैं कि 'भाई, हम करना तो चाहते हैं लेकिन कोई योग्य गुरु नहीं मिला।' यह भी बहाना ढूँढ़ना ही है। अरे भाई, जरा सोचो तो सही कि तुम्हारा विवेक जो तुम्हें बताता है उससे अधिक योग्य मार्ग-दर्शक कौनसा गुरु चाहिए ? आपका विवेक जितना योग्य है उतना योग्य तो और कोई नहीं हो सकता। और भी एक बहाना करेंगे कि 'क्या बतायें, हमने तो यह सुना है कि जो कुछ होता है वह सब ईश्वर की सत्ता से ही होता है, इसलिए हम तो कुछ कर ही नहीं सकते।" अच्छा भाई, यह जो बहाना आप सुनते हैं कि सब कुछ ईश्वर की सत्ता से ही होता है, तो जब कोई आपके साथ बुराई करता है तब क्या आप उसे निरपराध मानते हैं, तब क्या आप उसे श्रद्धा-भक्ति से पूजते हैं और यह कहते हैं कि यह सब ईश्वर की ही सत्ता से हुआ। मेरे भाई, तुम्हारा कोई दोष नहीं।" परन्तु उस समय तो आप एक कठोर न्यायाधीश बन जाते हैं और उस व्यक्ति को उस बुराई का कर्त्ता मान लेते हैं, उसी ज्ञान से आप अपनी भूल होने पर अपने को कर्त्ता क्यों नहीं मानते ? एक बात यह, दूसरी बात और सोचिये कि अगर ईश्वर ही तुमसे बुराई करवाता है, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि दुनियाँ में क्या कभी आपने ऐसा अनुभव किया है कि भोजन किसी और ने किया हो और भूख किसी दूसरे की दूर हुई हो ? क्या ऐसा कोई उदाहरण मिला है कि रोटी तो और कोई खाये और भूख हमारी दूर हो जाय ? शर्बत तो कोई और पिये और मीठा मुँह हमारा हो जाय ? ऐसा तो आप नहीं देखते, अपितु ऐसा देखते हैं कि जो कर्त्ता होता है वही भोक्ता होता है। जब बुराई का परिणाम आप भोगते

हैं, तो अगर ईश्वर बुराई करने वाला था तो उसके फल का भोक्ता भी उसी को होना चाहिए था, आप फिर क्यों भोक्ता होते हैं ? तो यह भी एक बहाना ही है। बात असल में यह है कि हम लोग अधूरी जानकारी में सन्तुष्ट होकर मनमाने बहाने ढूँढ़ते रहते हैं।

वास्तव में आपका जो यह मानव-जीवन है, वह इतना सुन्दर जीवन है, इतना अलौकिक जीवन है कि प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन अपने जाने हुए दोष का त्याग करके निर्दोष हो सकता है, अवश्य हो सकता है। परन्तु हो तो तब, जब यह स्वीकार करे कि हमारे जीवन में जो दोष घट रहा है उसका दायित्व हमारे ऊपर है और जिसका दायित्व आप अपने ऊपर मान लेते हैं उसको मिटाने के लिए एक साहस आप में पैदा हो जाता है, आपमें एक बल पैदा हो जाता है और उसके लिए आप तत्पर हो जाते हैं। परन्तु अपने द्वारा होने वाले दोषों का कारण दूसरे को मान लेते हैं और कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लगते हैं कि "हम करें क्या ? हमको क्रोध आता ही नहीं, परन्तु उन्होंने इतनी बेसमझी की बात की कि फिर क्रोध आना ही था, परिस्थिति ने हमें मजबूर कर दिया।" इतना ही नहीं, बड़े-बड़े समझदार भाई-बहन ऐसा सिद्धान्त बना बैठे हैं, कि 'भाई, करें क्या, मानव जो है कमजोरियों से बना है।' अरे बाबा, मानव कमजोरियों से बना है या कमजोरियाँ मिटाने के लिए बना है ? तो जिस प्रकार यह सिद्धान्त भ्रमात्मक है उसी प्रकार यह मानना भी निराधार है कि 'क्या करें भाई, हम परिस्थिति के अधीन हैं।' परन्तु परिस्थिति के सदुपयोग में क्या पराधीनता है ? तो इस प्रकार अपने जाने हुए असत्य के त्याग के सम्बन्ध में जो हम अनेक प्रकार की मनगढ़न्त कल्पनायें बनाते रहते हैं वे हमें निर्दोष होने के लिए उत्साहित नहीं होने देतीं, तत्पर नहीं होने देतीं। इसलिए आज इस बात की बड़ी भारी आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह किसी भी वर्ग या विचारधारा का व्यक्ति हो, यदि उसे सफलता प्राप्त करनी है, यदि उसे सत्य के साथ अभिन्न होना है, तो उसके लिए यह अनिवार्य है कि प्रतिदिन सोने से पहले और जगने के बाद सबसे पहले यह व्यक्तिगत सत्संग करलें। किसी सत्पुरुष के पास जाना अथवा किसी सद्ग्रन्थ का अध्ययन भी सत्संग है। लेकिन सबसे मुख्य और सबसे उत्तम सत्संग तो यह है कि जो ज्ञान आपको मिला है उसके प्रकाश में अपने जाने हुए दोष का त्याग, अपने जाने हुए असत्य का त्याग करने का प्रयत्न करें, दृढ़ सकल्प करें। (अपूर्ण)

देह अचार किया कह होई ?

—श्री कृष्णदत्तजी भट्ट

अबूबिन आदम नाम का एक आदमी था। भला और भोला। एक रात को सोते से वह जग पड़ा। देखा कि उसके कमरे में प्रकाश फैला है। एक देवदूत बैठा है उसके कमरे में। देवदूत के हाथ में एक सुनहली पुस्तक चमक रही है। पुस्तक खुली है और उस पर वह कुछ लिख रहा है। अबू ने उससे पूछा—"क्या लिख रहे हैं आप ?"

देवदूत का चेहरा स्नेह से भरा था। बोला—'मैं उन लोगों के नाम लिखता हूँ, जिन्हें ईश्वर से प्रेम है।' अबू ने पूछा—'मेरा नाम भी है उन लोगों में है?' "नहीं, तुम्हारा नाम तो नहीं है", वह बोला। अबू ने शान्ति और दृढ़ता से कहा—'आपसे मेरी प्रार्थना है कि मेरा नाम उन लोगों में लिख लीजिये, जो ईश्वर के बन्दों से, आदमियों से, अपने भाइयों से प्रेम करते हैं।'

'अच्छी बात है।' देवदूत ने अबूबिन आदम का नाम ऐसे लोगों की सूची में लिख लिया, जो मनुष्यों से, अपने भाइयों से प्रेम करते हैं। इसके बाद देवदूत चला गया।

दूसरी रात को वह फिर आया। उसने अपनी पुस्तक अबू के आगे खोलकर रख दी। कहा—'देखो, यह है उन लोगों की सूची, जिन्हें ईश्वर प्रेम करता है।'

अबू ने देखा कि अबू का नाम सबसे ऊपर है ? सचमुच, ईश्वर उन लोगों को सबसे ज्यादा प्यार करता है, जो अपने भाइयों को प्यार करते हैं।

धर्म का असलीरूप—

ईश्वर-प्रेम की पहचान है मनुष्य मात्र से प्रेम करना, प्राणिमात्र से प्रेम करना। यही है धर्म का असली रूप। जो आदमी परायी पीर जानता है, दूसरे का दुख-दर्द समझता है, वही आदमी धर्मात्मा है।

घट-घट में वही परमात्मा समाया है। मुझे सुई चुभने से जैसी पीर होती है, वैसी ही दूसरे को भी होती

है । अपने जसा ही दूसरे का जी समझना चाहिए । किसी को सताना नहीं चाहिए । किसी को दुख नहीं देना चाहिए । कोई गाली भी दे दे, तो चुपचाप सुन लेना चाहिए । किसी वात का घमण्ड नहीं करना चाहिए । सब पर दया रखनी चाहिए । सब पर प्रेम करना चाहिए । यही है धर्म का असली मर्म ।

पूजा-पाठ तीर्थ, व्रत, जप-तप सव बेकार हैं, यदि हम धर्म के इस मूल-तत्त्व को नहीं समझते ।

बावा कबीरदास ने ठीक कहा है—

जब मैं भूला रे भाई,
मेरे सतगुरु जुगत लखाई ॥
किरिया-करम-अचार मैं छाँड़ा,
छाँड़ा तीरथ का न्हाना ।
सगरी दुनिया भई सयानी,
मैं ही इक बौराना ॥
ना मैं जानूँ सेवा बन्दगी,
ना मैं घण्ट बजाई ।
ना मैं मूरत धरि सिंघासन,
ना मैं पुहुप चढ़ाई ॥
ना हरि रीझै जप-तप कीन्हें,
ना काया के जारे ।
ना हरि रीझै धोती छाँड़े,
ना पाँचों के मारे ॥
दाया राखि धरम को
पाल जगसूँ रहै उदासी ।
अपना-सा जिव सबकौ जानै,
ताहि मिलै अविनासी ॥
सहै कुशब्द बादको त्यागै
छाड़ै गर्व गुमाना ।
सत्त नाम ताही को मिलि है
कहै 'कबीर' दिवाना ॥

यही बात नरसी भगत कहते हैं—

ज्याँ लगी आतमा तत्व चीन्यो नहिं
त्याँ लगी साधना सर्व जूठी ।
मानुषा देह तारों एम एले गयो,
मावठानी जेम तृष्टि वूठी ॥
शुं थयुं स्नान पूजा ने सेवा थकी,
शुं थयुं घरे रही दान दीधे ?
शुं थयुं धरी जटा भस्म लेपन कर्ये,
शुं थयुं बाल लोचन कीधे ?
शुं थयुं तप ने तीरथ कीधा थकी,
शुं थयुं माल ग्रही नाम लीधे ?
शुं थयुं तिलक ने तुलसी धार्या-थकी,
शुं थयुं गंगजल पान कीधे ?
शुं थयुं वेद व्याकरण वाणी वद्ये,
शुं थयुं राग ने रंग जाण्ये ?
शुं थयुं खट दरशन सेव्या थकी,
शुं थयुं वरणना भेद आण्ये ?
ए छे परपंच सहु पेट भरवा तणा,
आतमा राम पर ब्रह्म न जोयो ।
भणे 'नरसैं यो' तत्व दर्शन बिना,
रत्न चिन्तामणि जन्म खोयो ॥

स्नान और पूजा करने से, दान देने से, जटा धारण करने से, भस्म रमाने से, बाल मुँड़ाने से, नोच-नोचकर बाल निकाल डालने से, तपस्या से क्या होता है ? तीरथ से, माला जपने से, तिलक लग.ने से,

तुलसी या रूद्राक्ष की माला पहन लेने से, गंगाजल पीने से, वेद-पुराण पढ़ लेने से,व्याकरण रट लेने से क्या होता है ? न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा—इन षट् दर्शनों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से क्या होता है ?

यह सारा प्रपंच व्यर्थ है। बेकार है। उससे पेट भर सकता है और कुछ नहीं । जब तक मनुष्य आत्मा के तत्त्व को नहीं समझता, तब तक उसकी सारी साधना झूठी है। धर्म के, साधना के तत्त्व को समझे बिना सारा जीवन बेकार चला जाता है।

कुछ लोग ऐसा मान बैठे हैं कि धर्म का बाहरी रूप ही सब कुछ है । जो आदमी बाहरी आचार-विचार बहुत करता है, उसी को लोग धर्मात्मा मान लेते हैं।

ऐसी बात नहीं है।

बाहरी आचार-विचार होता है चित्त को शुद्ध करने के लिए। चित्त यदि शुद्ध नहीं हुआ और धर्म का असली तत्त्व समझ में नहीं आया, तो सब बेकार है ।

धर्मात्मा क्या करता है ?

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के निर्माता लोगों में से एक थे । एक बार उनके गाँव पर किसी हरिजन को साँप ने काट खाया । उन्होंने देखा, तो तुरन्त अपना जनेऊ तोड़ कर उससे हरिजन के उस अंग को कस कर बाँध दिया, जहाँ साँप ने काटा था। लोग चौंक पड़े। एक तो जनेऊ यों ही पवित्र ! फिर कोई ब्राह्मण उसे तोड़कर हरिजन को बाँधे—यह बात लोग सोच भी नहीं पाते थे।

पर जो 'ब्राह्मण' है, ब्रह्म को जानता है, आत्मा के तत्त्व को पहचानता है, 'घट-घट में तोरा सांई रमत है'—इस बात को समझता है, धर्म के असली तत्त्व का ज्ञान रखता है, वह ऐसे मौके पर पीड़ित आदमी के प्राण बचायेगा कि बैठकर यह सोचेगा कि मैं इसे छुऊँ कि नहीं ? रस्सी नहीं है तो क्या जनेऊँ को तोड़ डालूँ ? वह तो तुरंत वही करेगा, जो पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया।

सब भ्रम में हैं—

धर्म के इस भीतरी तत्व को बहुत कम लोग समझते हैं । ऊपरी आचार पर ही लोग ज्यादा जोर देते हैं। पर उससे आदमी का अहंकार ही बढ़ता है। उसकी सच्ची उन्नति नहीं होती।

महात्मा सुन्दरदास कहते हैं—

सब कोउ भूलि रहे इहि बाजी ।
आपु आपुने अहंकारमें पातिसाहि कहा पाजी।।

पातिसाहि कै विभौ बहुत विधि,
खात मिठाई ताजी ।
पेट पयादो भरत आपनौ,
जीमत रोटी भाजी ।।
पंडित भूले वेद पाठ करि,
पढ़ि कुरान कौं काजी ।
वै पूरब दिशि करैं दण्डवत,
वै पच्छिमहि निवाजी ।।
तीरथिया तीरथ को दौड़े,
हज को दौड़े हाजी ।
अन्तर गति को खोजैं नाहीं,
भ्रमणैं ही सों राजी ।।
अपने-अपने मद के मांते,
लखैं न फूटी साजी ।
'सुन्दरि' तिनहिं कहा अब कहिये,
जिनकै भई दुराजी ।।

दरिया साहब का भी यही कहना है–

दुनियां भरम भूल बौराई ।
आतम राम सकल घट भीतर
जाकी सुद्ध न पाई ।।
मथुरा कासी जाय द्वारिका
अरसठ तीरथ न्हावै ।
सतगुरु बिन सोधा नहीं कोई
फिर-फिर गोता खावै ।।
चेतन मूरत जड़ को सेवै
बड़ा थूल मत गैला ।
देह अचार किया कह होई
भीतर है मन मैला ।।
जप तप संजम काया कसनी
सांख्य जोग ब्रत दाना ।
यातें नहीं ब्रह्म से मेला गुन
हर करम बंधाना ।।
बकता ह्वै ह्वै कथा सुनावै
स्रोता सुन घर आवै ।
ज्ञान-ध्यान की समझ न कोई
कह सुन जनम गंवावै ।।
जन 'दरिया' यह बड़ा अचम्भा
कहै न समझै कोई ।
भेड़ पूँछ गहि सागर लाँघै
निश्चय डूबै सोई ।।

भला भेड़ की पूँछ पकड़कर कोई समुद्र पार कर सकता है ? लोग जिन्दगी भर कथा कहते रहते हैं; वेद, पुराण, गीता, भागवत, कुरान, गुरु ग्रन्थ सुनते रहते हैं; तीर्थ-व्रत, जप-तप करते रहते हैं; पर अन्त तक बने रहते हैं पत्थर ही ।

क्यों ?

इसीलिए कि वे धर्म के बाहरी रूप को पकड़कर बैठ जाते हैं । भीतरी तत्त्व को छूते ही नहीं ।

फिर उनकी साधना सफल भी हो तो कैसे ?

फिर उनकी बन्दगी कबूल भी हो तो कैसे ?

साधना क्यों नहीं सफल होती ? धर्म का मतलब यह है कि आदमी ईश्वर की तरफ बढ़े, उसके चित्त में शान्ति आये, प्रसन्नता आये, उसकी चिन्ताएँ मिटें, वह अच्छे रास्ते पर चले ।

पर, बरसों जप-तप, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत करने पर भी ऐसा कुछ नहीं होता । इसका कारण यही है कि हम

धर्म के भीतरी तत्व को समझते ही नहीं।

बादशाहत ठुकराकर, लकड़ी काटकर अपनी गुजर करने वाले सूफी फकीर इब्राहीम बिन अदहम से लोगों ने पूछा : "हजरत, जरा यह तो बताइये कि हमारी दुआ कबूल क्यों नहीं होती ?"

बोले : "भैया, तुम यह तो जानते हो कि खुदा है, मगर तुम उसकी बन्दगी नहीं करते । उसकी नेमत खाते हो, मगर शुक्र नहीं करते । बहिश्त (स्वर्ग) और दोजख व (नरक) है, यह तो मानते हो, मगर एक से मिलने का और दूसरे से बचने का सामान नहीं करते। शैतान को दुश्मन तो समझते हो, मगर उससे दूर नहीं रहते । जानते हो कि मौत आयेगी, मगर उसकी तैयारी नहीं करते। जानते तो हो कि मुझमें ऐब है, बुराई है, फिर भी दूसरों के ऐव निकाला करते हो। भला ऐसे आदमी की दुआ कैसे कबूल हो ?

बेहतर है कि जाहिर और बातिन, बाहर और भीतर (मन और कर्म) एक हो।"

यह है धर्म का भीतरी तत्त्व ।

(संकलित)

★

योग, बोध और प्रेम किसी क्रिया के फल रूप में प्राप्त नहीं होते; क्योंकि क्रिया की उत्पत्ति कर्ताभाव से होती है। कर्ताभाव शरीर के साथ एकता मानने पर होता है तथा शरीर में अहंता, ममता रहते हुए योग, बोध और प्रेम नहीं हो सकते ।

सद्गुरुवाणी

सद्गुरु श्रुत वाणी ली मान, एक तुम्हीं मेरे भगवान् ।।

तूं सब ठौर तभी इस जाँहै, तूं सर्वदा तभी अधुना है ।
तूं सब में इससे मुझ माँ है, तब मिलने में क्या व्यवधान ।।१।।

तू सर्वेश्वर तेरा सब कुछ, तेरे सिवा न मेरा है कुछ ।
तू अपना तब नहिं चहिए कुछ, बड़ा बेधड़क यह गुरु-ज्ञान ।।२।।

निर्ममता से मल हट जावे, चाह-मुक्ति विक्षेप मिटावे ।
प्रभु अपने आवरण नसावे, कैसा अनुपम यह विज्ञान ।।३।।

पहला, दो विवेक को मान, दूजा, निर्ममता सोपान ।
तीजा है होना निष्काम, होवोगे फिर पूरण-काम ।।४।।

वेद-पाठ का नया तरीका, मौन पाठ, शून्यालय नीका ।
सुना सभी ने किसने सीखा ? गुरुमुख निसृत वच-वरदान ।।५।।

चला-चली जग ठाट महान, उसमें अचल एक है राम ।
एक संत का सुन व्याख्यान, 'लाल कन्हैया' गाया गान ।।६।।

———

मोक्ष-प्राप्ति

★ प्रो० जगमोहनजी मित्ताल

अगर किसी आध्यात्मिक व्यक्ति से पूछा जाय कि जीवन का उद्देश्य क्या है, तो वह निस्संकोच भाव से उत्तर देगा, मोक्ष प्राप्त करना। मोक्ष का क्या अर्थ है ? मोक्ष किन साधनों से और कैसे प्राप्त किया जाता है ? इस विषय में साधकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। साधारणतया मोक्ष का अर्थ लिया जाता है आवागमन के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करना। दूसरे शब्दों में जिस व्यक्ति का मोक्ष हो जाता है, वह फिर शरीर धारण नहीं करता। मोक्ष का साधन तो मनुष्य को इस जीवन में करना पड़ता है, किन्तु उसका लाभ मृत्यु उपरान्त मिलता है।

मोक्ष का भिन्न अर्थ भी तो है। मोक्ष का मतलब बन्धन से मुक्ति है। मनुष्य के वन्धन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर हैं। ये बन्धन बहुत मजबूत हैं और जो मनुष्य साधना द्वारा इन बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है, उसकी इस योनि और भविष्य की योनियों में भी मुक्ति हो जाती है। किन्तु इन बन्धनों में फँसे रहने वाले मनुष्य को न इस जीवन में और न भविष्य में मोक्ष प्राप्त होगा। मोक्ष तो हमारा वास्तविक स्वरूप है, जो निरन्तर अभ्यास द्वारा इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है। आवागमन का विचार भी बन्धन है और इस विचार से मुक्त होने का नाम ही मोक्ष है।

ऊपर वर्णित विषय काम, क्रोध इत्यादि स्वयं तो बन्धन हैं ही, किन्तु इनके चक्कर में पड़ने वाला मनुष्य अन्यान्य बन्धनों के जाल में फँसता जाता है। क्रोध में अन्धा होकर किसी का सिर फोड़ देने या मार देने से मनुष्य को कारावास का दण्ड मिलता है, जो प्रत्यक्ष बन्धन का एक उदाहरण है। इसी प्रकार लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य अपना गला कटा बैठता है। मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी इन विषयों के आधार पर ही वश में किए जाते हैं। हाथी पकड़ने वाले कागज की हथिनी बना कर एक गड्ढे के किनारे खड़ा कर देते हैं, विषयान्ध हाथी आकर इस गड्ढे में गिर पड़ता है। इसलिए एक आध्यात्मिक मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह इन विषयों को स्वयं के नियंत्रण में रक्खे। इसी का नाम साधना है।

साधना करने के लिए एकान्त या जंगल की आवश्यकता नहीं है और न ही भगवा लेने की आवश्यकता है। साधना का सबसे अच्छा

क्षेत्र तो यह दुनिया ही है, जो झंझावातों से भरी हुई है । स्वामी रामतीर्थ को भयंकर तूफान के मध्य जब शान्ति से बैठे देखा, तो एक अंग्रेज ने चकित होकर इस शान्ति का कारण पूछा । स्वामी जी ने उत्तर दिया—'तूफान तो समुद्र में है, मेरे मस्तिष्क में नहीं है ।' (If there is any storm, it is in the sea, not in the mind)

इन विषयों को वश में करके तो मनुष्य कोई न कोई महान कार्य करता है। ऐसा करने के बाद जो कन्दराओं की ओर भागता है, वह प्रवंचक है। जो ऐसा समझे कि मुझे दुनियादारी और समाज से क्या मतलब है, वह स्वार्थी है। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, महात्मा हंसराज और महात्मा गांधी कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जिन्होंने इन विषयों को वश में करके सफलता प्राप्त की थी। उन्होंने समाज-कल्याण का विशेष कार्य कर दिखाया। स्वयं मोक्ष प्राप्त कर उन्होंने समाज को भी व्याधियों से मुक्त कराया । इन व्यक्तियों के जीवन में अनेक ऐसे अवसर प्रस्तुत हुए, जब ये क्रोध, मद, लोभ और मोह में फंस सकते थे, किन्तु ये इनसे परे थे। इसीलिए ये समाज-कल्याण में सफल भी हुए।

इन विषयों से मुक्ति प्राप्त करने के मैं दो साधन ही समझता हूँ—निरन्तर सत्संग करना और समाज-कल्याण का कोई न कोई कार्य हाथ में रखना। महापुरुषों के कार्यों और जीवन को पढ़ने से प्रेरणा मिलती है और सत्संग के प्रभाव से मनुष्य बुरी बातों से बचता है। आर्य समाज, राम-कृष्ण-मिशन, मानव सेवा संघ इत्यादि अनेक सत्संग-मण्डल देश में हैं, जो मनुष्यों को इन्द्रिय-निग्रह कर समाज-कल्याण की प्रेरणा देते हैं । इन संस्थाओं के नेताओं ने भी जीवन पर्यन्त यही किया और आज भी यही कर रहे हैं। अतः मनुष्य को संसार में रहते हुए, सभी आने वाले झंझावातों का वीरतापूर्वक मुकाबला करते हुए ही बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। जिन लोगों ने महान कार्य किये हैं या जो लोग महान कार्य करेंगे, वे वे ही होंगे, जो बन्धनों से मोक्ष प्राप्त कर चुके होंगे।

*

एकान्त सेवन

• श्री रुद्रसेनजी खन्ना

★

संसार को पवित्रता प्रदान करती हुई पवन तथा चारों ओर शीतलता प्रदान करता हुआ नदियों का जल जिसकी खोज में निरन्तर गतिशील है, अग्नि, सूर्य और चांद जिसके प्रकाश से प्रकाशित होकर जगत के अंधकार को मिटा रहे हैं, मृत्यु देवता जिसकी कठोर आज्ञा का पालन करता हुआ प्रत्येक प्राणी को भयभीत बनाये हुए है और भगवान शंकर जिसके ध्यान में मग्न होकर अपने आपको भूल जाते हैं, उसके बारे में एक नव आगन्तुक युवक ने आते ही श्रीरामकृष्ण परमहंस से पूछा—"क्या आपने उसे देखा है ?" परमहंस की प्रसन्न मुद्रा गंभीर हुई और उन्होंने बड़े धीरज से उत्तर दिया—"हाँ, मैंने उसे देखा है और उससे वार्तालाप भी किया है"। आगन्तुक की आकृति भी गंभीर हो गई। पराजित हो जाने जैसे चिह्न उसके मुख पर दिखाई देने लगे। विश्वास और संदेह का द्वंद्व उसके अंदर आरम्भ हो गया और वह परमहंस के पास रुक गया। उसके मन में प्रश्न उठा—क्या उसे पाने के लिए परिवार का परित्याग करना पड़ेगा, लंगोटी लगानी पड़ेगी, भूख और प्यास की व्यथा सहन करनी पड़ेगी अथवा इनके बिना भी काम बन जायगा ? परमहंस उसके भाव को ताड़ गये। थे तो निरक्षर भट्ट ही, परन्तु अनुभव की कमी नहीं थी। अनन्त के साथ सम्बन्ध हो जाने पर किस बात की कमी रह सकती है ? यद्यपि शास्त्रीय भाषा में उन्होंने बातें नहीं कीं फिर भी सत्य को प्राप्त करने के लिए जो सरल और सहज उपाय उन्होंने बताये वे समय पाकर आगन्तुक का जीवन बन गये और उसके पश्चात् उसे कुछ भी पाना शेष नहीं रहा। परमहंस ने कहा:—

"चारों ओर से संसारी वातावरण से घिरा हुआ मनुष्य परमात्मा के बारे में कुछ भी नहीं सोच सकता। वे लोग भ्रम में हैं जो यह कह देते हैं कि राजा जनक राज्य का सारा कार्य करते हुये भी संसार से असंग रहते थे, हम भी उसी प्रकार अपना जीवन व्यतीत करेंगे।

ऐसा कहने मात्र से कोई भी राजा जनक नहीं हो पाया। उन्हें मालूम नहीं कि राजा जनक ने असंगता प्राप्त करने के लिए एकान्त-सेवन द्वारा कितना कठोर साधन-युक्त जीवन व्यतीत किया और उसके फलस्वरूप परमात्मा को प्राप्त किया। उसे प्राप्त करने के पश्चात् ही वे संसार में असंगतापूर्वक रह सके। शरीर से असगता प्राप्त करने के कारण ही वे—विदेह कहलाये। देहाभिमान रहते हुए असंगता कहां प्राप्त हो सकती है? असंगता प्राप्त न होने पर संसार में लिप्त हुए बिना व्यक्ति कैसे रह सकता है? और संसार में लिप्त होने के परिणाम स्वरूप सुख-दुख आदि द्वंद्वों से प्रभावित हुए बिना कौन रहा है? यह संसार जल की भांति है और हमारा मन दूध की भांति। यदि आप दूध को पानी में डाल दें तो दूध पानी के साथ मिल जायगा, परन्तु यदि आप दूध को कुछ समय के लिए बिना हिलाये एकान्त स्थान में रख कर दही में परिवर्तित होने दें और उसमें से मक्खन निकालें तो वही दूध मक्खन के रूप में पानी के साथ नहीं मिलेगा, उसके ऊपर तैरता रहेगा। उसी प्रकार ईश्वर-प्राप्ति किये बिना मन संसार के राग-द्वेष युक्त वातावरण से कभी नहीं बच सकता। साधक के लिए साधन-काल में एकान्त-सेवन अत्यन्त आवश्यक है। उस एकान्त में प्रभु-भक्ति तथा आत्म-ज्ञान प्राप्त करो। उसके पश्चात ही संसार में असंग होकर रह सकोगे, अन्यथा नहीं।

जब आप एकान्त सेवन करें, उस समय अपने परिवार से सर्वथा दूर रहें। अपनी स्त्री, पुत्र, माता, बहन, भाई तथा मित्रों को अपने पास न आने दें। उस समय ऐसा विचार मन में हो कि परमात्मा के अतिरिक्त संसार में मेरा अपना कोई नहीं है। वह सर्वव्यापक प्रभु, जो मेरे अंदर मेरी अंतरात्मा के रूप में विद्यमान हैं, जो चींटी के पग में घुंघरू बजने की आवाज को भी सुनते हैं, वह मेरी भी प्रार्थना सुनेंगे। उस समय सच्चे हृदय तथा अश्रुभरे नेत्रों से उनसे ज्ञान और भक्ति के लिए प्रार्थना करें। ऐसी प्रार्थनायें मैंने बेल के वृक्ष के नीचे विह्वलतापूर्वक उस मातेश्वरी के सामने कीं कि हे मां, जो फल योगियों को योग के द्वारा तथा ज्ञानियों को विवेक के द्वारा मिला, मेरे सामने वह सब प्रकट कर दे। इस प्रकार व्याकुलतापूर्वक किया हुआ तीव्र साधन एक दिन में, तीन दिन में अथवा एक सप्ताह में ही आपको लक्ष्य तक पहुँचा देगा। इस लक्ष्य रूपी छत पर पहुँचने के लिए

अंतिम सीढ़ी है— शुद्ध सात्विक भाव का होना। छत पर पहुँचने के पश्चात् आप वहां निस्संकोच नृत्य कर सकते हैं, कूद सकते हैं, परन्तु सीढ़ियों में अर्थात् साधन-काल में ऐसा करना गिरने के खतरे से खाली नहीं होगा। साधन-काल में आप स्वच्छन्द नहीं विचर सकते। छत पर पहुँचने के बाद नीचे देखने से आपको पता चलेगा कि जिस सामग्री की छत बनी हुई है उसी की ही सीढ़ियां थीं जिन्हें त्याग कर ऊपर चढ़े थे अर्थात् संसार परमात्मा से भिन्न नहीं दिखाई देगा। जिसे अनित्य और दुखमय समझ कर परित्याग करने का निश्चय किया था वह उस प्रभु का परिवर्तित रूप अथवा निरन्तर होती हुई लीला दिखाई देगी।

संसार कान्ता और कनक के लिए पागल हुआ फिरता है। एक बार अपने लिए भी किसी को कहने दो कि यह व्यक्ति ईश्वर की धुन में पागल हो गया है। एक बार प्रभु-प्राप्ति रूपी पारस से अपने को सोना बना लो, इसके पश्चात् यदि वर्षों तक भी पृथ्वी के नीचे गड़े रहोगे तो बाहर निकलने पर आप सोना ही बने रहोगे, मिट्टी नहीं हो सकते। जूता पहन लेने के बाद कांटों पर चलना कठिन नहीं होता।

पहले समय के ऋषियों ने ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने इसे पाने के लिए कितना परिश्रम किया। प्रातः उठकर वे अपनी कुटिया से बाहर चले जाते और सारा दिन दूर एकान्त वन में ब्रह्म-विचार और ध्यान में व्यतीत करते। सायंकाल लौट कर कंद-मूल खाकर विश्राम करते। इन्द्रियों को उनके विषयों से दूर रखने की चेष्टा करते। तब कहीं जाकर परमात्मा को अपनी अन्त-रात्मा के रूप में साक्षात् करते। साधक के अन्दर जब तक संसार का लेशमात्र भी महत्त्व तथा आकर्षण है, वह उस ज्ञान को कभी नहीं प्राप्त कर सकता। आप का रोग पुराना हो गया है इसे भजन रूपी औषधि और एकान्त-सेवन रूपी पथ्य से पहले ठीक कर लो, उसके पश्चात् सब प्रकार के भोजन पचा सकोगे, अर्थात् असंग होकर संसार में विचर सकोगे, अथवा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी कि या तो संसारी पदार्थ आपको अच्छे नहीं लगेंगे अथवा वे अपना प्रभाव आप पर नहीं डाल सकेंगे। टाईफाईड ज्वर का रोगी रोग से कैसे मुक्त हो सकता है, यदि उसके पास अचार-चटनी के मर्तबान और कुपथ्य की सब वस्तुएं विद्यमान हों। स्वादिष्ट अचार का ख्याल आते ही मुंह में पानी भरने लगता है, परन्तु यदि रोगी द्वारा उसका सेवन किया जाय तो परिणाम का अनुमान लगाना

कठिन नहीं है। स्वस्थ होने तक तो इनसे अलग रहना ही पड़ेगा। कंचन और कामिनी अचार-चटनी के मर्तबान हैं। अपने बल के भरोसे इनके प्रभाव से कोई नहीं बच पाया। आपने देखा होगा कि सड़क के किनारे जो वृक्ष लगाये जाते हैं, उनकी रक्षा के लिए पहले बाड़ लगाई जाती है। जब उनके तने सुदृढ़ हो जाते हैं तब बाड़ की आवश्यकता नहीं रहती। उस समय उनके साथ आप हाथी को बांध सकते हैं। इसी प्रकार साधन की रक्षा के लिए एकान्त-सेवन रूपी बाड़ अत्यन्त आवश्यक है। जब आप प्रभु-भक्ति तथा आत्म-ज्ञान द्वारा अपने को सुदृढ़ बना लेंगे, तब संसार में असंग होकर विचर सकेंगे। कटहल फल को काटने के लिए व्यक्ति को हाथों पर तेल लगाना पड़ता है ताकि उसका चिपकने वाला रस हाथों में चिपके नहीं। ईश्वर-प्राप्ति रूपी तेल लगाने के बाद ही संसार रूपी चिपकने वाला रस प्रभावित नहीं करता, अन्यथा संसार के प्रभाव से कोई भी अछूता नहीं रह सका।

लक्ष्य प्राप्त होने पर भी समय-समय पर एकान्त-सेवन सदा ही वांछनीय है। ज्ञान प्राप्त होने के बाद भी संसार में विचरते हुए व्यक्ति से जहां असावधानी हुई, वहीं पथ-भ्रष्ट होने का भय आ उपस्थित होता है। चाहे आप कितने ही होशियार क्यों न हों कालख की कोठरी में रहते हुए कालख से बच नहीं सकते, चाहे वह कितनी ही अल्प मात्रा में क्यों न हो। मक्खन निकालने के बाद यदि मक्खन को नयी हांडी में रखा जाय तो उसके खराब होने का भय नहीं रहता, परन्तु यदि उसे ऐसे वर्तन में रख दिया जाय जिसमें दही रखा जा चुका हो तब आप निशंक होकर नहीं कह सकते कि उसकी सुगंधि में अंतर नहीं आयेगा। इसी प्रकार जब तक आपके पुराने संस्कार ज्ञान-अग्नि में पूर्ण रूप से जल न जायं और भविष्य में सात्विक संस्कारों के अतिरिक्त दूसरे संस्कारों का प्रभाव पड़ने की संभावना मिट न जाय तब तक ज्ञान और भक्ति को सुरक्षित बनाये रखने के लिए विचार, वैराग्य और एकान्त-सेवन अत्यन्त आवश्यक है।"

['Gospel of Sri Ramakrishna' के आधार पर]

———

संग जनित दोष का त्याग

(साधु वेश में एक पथिक)

धन के लोभी धन मद छोड़ो, दाता प्रभु से नाता जोड़ो ।
धन से कल्पित सुख मिलता है, शान्ति नहीं मिलती है धन से ।
धन तो छिन जाता, छुट जाता, लोभ नहीं जाता है मन से ।
धन से मंदिर बन जाते हैं, मूर्ति प्रतिष्ठित हो जाती है ।
धन से प्रेम नहीं मिलता है, धन से भक्ति नहीं आती है ।
धन से गीता वेद मिलेंगे, धन से ज्ञान नहीं मिलता है ।
धन से भोग सुलभ होते हैं, पर भगवान नहीं मिलता है ।
तो, लोभ पाश को तोड़ो, धन के लोभी......................
धन से उपदेशक मिल जाते, पर अविवेक नहीं मिट पाता ।
धन के बल से सुखासक्त, मानव का मोह नहीं है जाता ।
धन देकर शिक्षक रख सकते, पर मेधावी बुद्धि न मिलती ।
धन है वस्तु प्राप्त का साधन, धन से आत्म-विशुद्धि न मिलती ।
धन से सुन्दर चित्र सजा लो, सच्चरित्र धन से न मिलेगा ।
दैवी-सम्पद-हीन धनी का, हृदय-कमल धन से न खिलेगा ।
धन के लोभ-पात्र को फोड़ो, धन के लोभी......................
धन से विटामिन्स मिलते हैं, धन से शक्ति नहीं मिलती है ।
धन से आक्सीजन मिल जाता, धन से सांस नहीं हिलती है ।
धन के बल पर सर्जन मिलते, दिल दिमाग जो जड़ देते हैं ।
पर धन से अमरत्व न मिलता, तन को प्राण छोड़ देते हैं ।
धन के बल पर कुलर लगा कर, शीतल करलो भव्य भवन को ।
पर धन द्वारा शान्त नहीं, कर सकते हो संतापित मन को ।
धन की तृष्णा से मुख मोड़ो, धन के लोभी......................
धन के बल पर तीर्थ-धाम में, मंदिर में प्रवेश पा सकते ।
पर धन की रिश्वत दे करके, कोई स्वर्ग नहीं जा सकते ।
धन छुटने के पहले ही तुम, पात्र देख दानी बन जाओ ।
प्रभु की कृपा समझ कर, भीतर सरल निरभिमानी बन जाओ ।
धन की रक्षा करते-करते, धन के लोभी मर जाते हैं ।
किन्तु परम प्रभु के प्रेमी, उदार दानी बन तर जाते हैं ।
'पथिक' कथन का सार निचोड़ो, धन के लोभी.............

— — —

साधक की सबसे बड़ी निधि—

मांग की जागृति

• श्री मदनमोहनजी वर्मा

☆

वैसे तो मानव सेवा संघ के साहित्य द्वारा परमपूज्य श्रीस्वामीजी महाराज साधक की मौलिक आवश्यकता, मांग की जागृति, पर बल देते ही हैं और संघ के प्राथमिक प्रकाशनों में "मानव की मांग" पुस्तक ही इसी विषय को लेकर रची गई है—परन्तु कोई घड़ी ऐसी होती है जव कि कोई बात तीर के समान लग कर रह जाती है। गत शीतकाल जयपुर के सत्संग में पूज्यपाद ने, साधन-निर्माण की चर्चा करते हुए बड़ा जोर देकर एक ऐसी ही मार्मिक बात कही। वे बोले "यदि साधक के जीवन में सब कुछ प्राप्त हो जावे पर यदि सच्ची मांग जागृत न हो पावे, तो कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ और यदि सच्ची मांग जागृत हो जावे और अन्य कुछ प्राप्त न हो, तो सब कुछ पाया समझो।" अतः इस वाक्य द्वारा इस बात पर जैसा बल उन्होंने दिया, वह एक प्रकार से अनूठा था।

हम लोग अधिकतर मस्तिष्क अथवा भाव के स्तर पर तो इस बात को समझ लेते हैं, पर जीवन-संग्राम में, खुले अथवा गुप्त रूप में, परिस्थिति-परिवर्तन की चाह ही बनी रहती है अथवा वस्तु, व्यक्ति का आश्रय ही बना रहता है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति के परे जो नित्य जीवन है, जो परिस्थिति पर लेश-मात्र भी आश्रित नहीं है, उसकी मांग जब वास्तव में जागृत हो जावे तब वह मांग स्वयं हमारे साधन का निर्माण कर देगी।

अब यदि कोई यह प्रश्न करे कि सच्ची मांग कैसे जागृत हो, तो पहिली बात यह है कि साधक सच्ची मांग जागृत होने की जरूरत महसूस करे। फिर, सच्ची मांग जागृत होने में क्या २ बाधाएं हैं और उसे जागृत करने के लिए साधक को क्या-क्या करना चाहिये, इन बातों पर संघ के साहित्य में काफी प्रकाश भरा पड़ा है और प्रत्येक श्रेणी के साधकों के लिए सामान्य नियम बताए गए हैं, जैसे कि आत्म-निरीक्षण; की हुई भूल को न दुहराना; प्राप्त बल का

सदुपयोग; अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा; आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों का त्याग; दूसरों को अपने दुख का कारण न मानना; सुख में दुख का दर्शन; अपने को शरीर न समझना; प्रभु-विश्वास; जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत्-चिन्तन और सत्य की खोज आदि।

लेकिन, मूल बात यही है कि साधक को दृढ़तापूर्वक अपना लक्ष्य निर्धारित करना है, तब सभी मुश्किलें हल होती जावेंगी और गुत्थियां खुलती जावेंगी। जब तक साधक लक्ष्य निर्धारित नहीं करता और उसके विरोधी असत्य के त्याग का व्रत नहीं लेता, तब तक मुश्किलों का जाल फैलता ही जावेगा। यह हम सब का अनुभव होगा।

यह लेख इतना छोटा ही लिख-कर छोड़ा इसलिए जाता है कि जिससे पाठकों का ध्यान अन्य विस्तार की बातों पर जाकर बट न जावे—बल्कि लेख के मूल विषय पर ही मनन करके हम सब साधन में आगे बढ़ें।

मनुष्य की असली माँग है—ऐसा 'रस' जिसमें नीरसता की गन्ध न हो, ऐसा आनन्द जिसमें दुःख का मिश्रण न हो, ऐसा जीवन जिसमें मृत्यु का भय न हो और ऐसा ज्ञान जिसमें किसी प्रकार का संदेह न हो। इस माँग की पूर्ति किसी वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति के द्वारा नहीं हो सकती। इसकी पूर्ति तो एकमात्र प्रभु-प्रेम से ही हो सकती है।

सन्त-पत्रावली

(१)

५–५–५८

परम आस्तिक स्नेहमयी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो। विवेक-विरोधी कर्म का त्याग हो जाने पर कर्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है और फिर जो करना चाहिए, वह होने लगता है, जिसके होने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। यदि किये हुए के फल में आसक्ति न हो, तो वही कर्त्तव्य-कर्म अपने प्रेमास्पद की पूजा हो जाती है। इस दृष्टि से कर्तव्यपरायणता सफलता की कुंजी है, किन्तु जब तक साधक विवेक-विरोधी कर्म का त्याग नहीं करता, तब तक स्वाभाविक रूप से कर्तव्यपरायणता नहीं आती। ऊपर से भरी हुई भलाई अभिमान को जन्म देती है। अभिमान की भूमि में ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। जानी हुई बुराई के त्याग से भलाई स्वतः प्रकट होती है और फिर सभी दोष सदा के लिए मिट जाते हैं– भूतकाल में की हुई बुराइयों की स्मृति भी नष्ट हो जाती है, क्योंकि सर्वांश में दोषों का अन्त होने पर निरभिमानता अपने आप आती है, जिसके आते ही भूतकाल की घटनाओं का प्रभाव मिट जाता है। वर्तमान तो सभी का निर्दोष है। उस निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए की हुई भूल को न दुहराना ही साधन है।

किसी भी साधक को न तो विवेक-विरोधी ही कर्म करना है और न वह करना है जिसके करने की सामर्थ्य नहीं है। आदर तथा प्यार सभी को देना है। आदर और प्यार की भूख सभी में रहती है। वस्तु तो व्यक्ति के भाग्य से मिलती है। अतः आदर तथा प्यार देना ही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। यह सेवा वे ही साधक कर पाते हैं जो अनेक वेषों में उस एक ही का दर्शन करते हैं। कर्म की विधि भिन्न-भिन्न प्रकार की होगी, किन्तु कर्म-भेद होने पर भी प्रीति की एकता ही रहेगी। यही सेवा की सफलता है।

किसी में ममता न हो, अपने प्रेमास्पद में आत्मीयता हो। आत्मीयता प्रियता की और प्रियता अनन्त रस की प्रतीक है। अनन्त रस की भूख ही अपनी भूख है। अतः प्रियता में ही पूर्णता है। कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। उन्हीं की है, जिनकी सारी सृष्टि है। उन्हीं के नाते प्राप्त वस्तु का सदुपयोग करना है। प्राप्त वस्तु के सदुपयोग में ही आवश्यक वस्तु की प्राप्ति निहित है। अप्राप्त वस्तु की कामना ने ही प्राणी को वस्तुओं की दासता में आवद्ध कर दिया है। वस्तुओं की दासता रहते हुए न तो वस्तुओं का सदुपयोग ही हो पाता है और न दरिद्रता का ही नाश हो पाता है। इस रहस्य को जान लेने पर सच्चा साधक प्राप्त वस्तु का सदुपयोग करते हुए अप्राप्त वस्तु की कामना से रहित हो जाता है। कामना का नाश हो जाने पर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप चिरशान्ति का सम्पादन होने लगता है। शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्रतीक है। स्वाधीनता में ही दिव्य चिन्मय जीवन निहित है।

जब प्रत्येक कर्तव्य-कर्म अपने प्यारे की पूजा है, तब यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता कि जो कार्य सामने है, नहीं होगा, अवश्य होगा, क्योंकि जिसकी पूजा करनी है, वह समर्थ है, अपना है, तो फिर भय तथा चिन्ता के लिए स्थान ही कहाँ है? असावधानी साधन में वाधक है, अतः विवेक पूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करती रहो। बस बेड़ा पार है।

सर्व समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें विश्व की सेवा तथा अपनी प्रीति प्रदान करें, यही मेरी सद्‌भावना है।

आश्रम-निवासियों से वहुत-वहुत मधुर स्नेह निवेदन करें। सभी आश्रमवासी इस वात का विशेष ध्यान रखें कि प्रत्येक कर्म आस्तिक दृष्टि से पूजा है, भौतिक दृष्टि से चिर शान्ति तथा सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है और आध्यात्मिक-दृष्टि से राग-रहित, अर्थात् वीत-रागता प्राप्त करने का साधन है। राग-रहित होते ही चिर शान्ति, स्वाधीनता, अमरत्व तथा परमप्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। अतः प्रत्येक कर्म साधन रूप है। अपने उद्देश्य पर दृष्टि रखते हुए प्रत्येक कर्म पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगा कर, ईमानदारी से करना चाहिए। यही सफलता की कुञ्जी है।

आपका

....

मेरे निज स्वरूप परम स्नेही साधक महानुभाव तथा
सत्संग-प्रेमी भाई और बहन।

निष्क्रिय दशा में यदि अनावश्यक कार्य का चिन्तन न हो, तो साधक को बड़ी ही सुगमतापूर्वक वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से विधिवत करने से कार्य के अन्त में स्वतः शान्ति का सम्पादन हो जाता है। किसी कार्य का चिन्तन नया कर्म नहीं है, अपितु किये हुए कार्य का परिचय है। उसका समर्थन अथवा विरोध न किया जाय, तो वह चिन्तन स्वतः निर्जीव हो जाता है और वास्तविक स्मृति जागृत होती है, जिसके होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि विलीन हो जाते हैं। स्मृति ही साधक का जीवन हो जाता है। स्मृति जिसकी है उससे देश-काल की दूरी नहीं होती। उसकी प्राप्ति वर्तमान में ही हो सकती है। स्मृति प्रीति होकर प्रीतम से अभिन्न हो जाती है और जिज्ञासा तत्त्वज्ञान से। इस दृष्टि से लक्ष्य की प्राप्ति में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। साधक के जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। असफलता का मूल कारण साधक की एकमात्र अपनी भूल है। यह सर्वमान्य सत्य है कि प्रत्येक कार्य का आरम्भ तथा अन्त होता है। कार्य के अन्त में साधक और साध्य में दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहती, अर्थात् साधक को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है। यह मंगलमय विधान है पर यह रहस्य तब तक स्पष्ट नहीं होता, जब तक साधक का प्रत्येक कार्य साधन-मय न हो और साध्य के लिए न हो। जब कर्त्ता एक है, तो लक्ष्य भी एक है और परिस्थिति की भिन्नता के कारण कार्यों में भिन्नता है। भिन्न-भिन्न कार्य एक ही भाव से एक ही लक्ष्य के लिए करना चाहिए। प्रभु-विश्वासी का प्रत्येक कार्य पूजा है और अध्यात्मवादी का प्रत्येक कार्य साधना है तथा भौतिक-वादी का प्रत्येक कार्य कर्तव्य है। पूजा का अन्त प्रेम में, साधना का अन्त साध्य की प्राप्ति में और कर्तव्य का अन्त नित्य योग में स्वतः होता है। योग की पूर्णता बोध में और बोध की पूर्णता प्रेम में स्वतः होती है। अतएव समस्त साधनों की परावधि साध्य की अगाध प्रियता में ही होती है जो मानव-जीवन का परम लक्ष्य है।

सर्वसमर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से साध्य की प्रियता प्रदान करें। इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

ओम् आनन्द
अकिंचन

———

साधकोपयोगी बातें

कामना निवृत्ति का महत्त्व

• श्री जीवनरामजी

(जैसा मैंने सुना और समझा)

जब तक मनुष्य गलत करता रहेगा, तब तक वह चाहे जितना जप, तप, दान करे, जन्मता-मरता ही रहेगा। गलत करते रहने वाले किसी का भी कल्याण कभी हुआ नहीं, होता नहीं, हो सकता नहीं। यह बात नितान्त सत्य है। इसपर प्रश्न होता है कि मनुष्य नहीं चाहने पर भी गलत क्यों कर बैठता है, तो विचार कर देखने से ऐसा मालूम होता है कि गलत करने में प्रधान कारण कामना ही है। जब तक मनुष्य निष्काम नहीं होता, तब तक वह गलत काम करता है। निष्काम होते ही गलत करना अपने आप छूट जाता है। सो कल्याणकामी साधक का पूर्ण निष्काम होना अत्यावश्यक है। देखो हर मनुष्य के सामने यह तीन बातें रहती हैं—कामना-पूर्ति, कामना-अपूर्ति और कामना-निवृत्ति। तो पहिले वाली दो बातों में तो मनुष्य बिल्कुल पराधीन है, कारण सभी कामना सृष्टि की आदि से लेकर आज तक किसी की भी पूरी नहीं हुईं और कुछ कामनाएं सभी की पूरी होती हैं। सो कामना-पूर्ति का जो सुख है उसमें आबद्ध होना तो पराधीनता में ही आबद्ध होना है। यह मीठा विष है, पहिले रुचिकर लगता है, परन्तु अन्त में तो दुखदायी ही है। कामना-अपूर्ति का दुख भी मनुष्य को पराधीनता में आबद्ध करता है, यानी पराधीनता को ही महत्त्व देने वाला है; सो इनकी प्राप्ति में सुखी-दुखी होना अपनी भूल के सिवाय और कुछ नहीं। अब रही तीसरी बात—कामना-निवृत्ति की। इसमें मानव मात्र स्वतन्त्र है। परतन्त्रता तो कामना-पूर्ति में ही है। हमें कुछ नहीं चाहिए, भला इस बात में भी कोई परतन्त्र या असमर्थ है क्या? तो कहना होगा कि नहीं; हमें कुछ नहीं चाहिए, इसमें कोई भी परतन्त्र और असमर्थ नहीं है और जो इस बात को अपने जीवन में ले आवेगा, उसी को सुख-दुख से अतीत जीवन की प्राप्ति होगी यानी

परमानन्दकी प्राप्ति होगी। परन्तु जो मनुष्य सुख को तो भोगे नहीं और दुःख से भयभीत न हो वही तीसरी बात को अपने जीवन में उतार सकता है। बहुत ही विद्वान, बलवान तथा धनवान होने से यह बात जीवन में नहीं आती। यह तो कामना-पूर्ति को महत्त्व नहीं देने वाले के जीवन में ही आ सकती है। चाहे वह कोई भी क्यों न हो। तीसरी बात के होने से ही अचाह पद की प्राप्ति होती है और उसी को समता की प्राप्ति होकर जीवन में समत्व योग की सिद्धि प्राप्त होती है। निष्काम होने पर मनुष्य में भगवत्-प्राप्ति की लालसा जागृत होती है और अचाह होने पर अपने लक्ष्य से अभिन्नता होती है। यही निष्कामता और अचाह में भेद है। देखो इन्द्रियों के सामने तो भोग हैं और पीछे मन है। मन के पीछे बुद्धि है, बुद्धि के पीछे अहम् और अहम् के पीछे हम हैं। हमारे पीछे भगवान् हैं। तो जब इन्द्रियां भोगों में भटकने लगती हैं तो उनकी तरफ मन, मन की तरफ बुद्धि, बुद्धि की तरफ अहं और अहं की तरफ हमारा गमन होता है और हम भगवान से विमुख हो जाते हैं। यदि हम अपना मुख भगवान की तरफ कर लें तो हमारी तरफ अहम्, अहम् की तरफ बुद्धि, बुद्धि की तरफ मन, मन की तरफ इन्द्रियां हो जाती हैं। सो जब तक हम भोगों में भटकते हैं तभी तक भगवान् से विमुख हैं। भोगों का त्याग करते ही इन्द्रियां मन में, मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है। बुद्धि सम होकर अहं में और अहं अभिमानशून्य होकर हममें और हम वासनारहित होकर भगवान से अभिन्न हो जाते हैं। सो भोगों का त्याग करें तभी हम भगवान के सम्मुख हो सकेंगे और तभी हमारा कल्याण होगा। सो कामनाओं की निवृत्ति करके पूर्ण निष्काम बनो— यही सब का सार है।

२

हमारी माँग तथा हमारा दायित्व

हर मानव की अपनी कुछ माँग होती है और अपना कुछ दायित्व भी होता है। सो जो मनुष्य अपने दायित्व को पूरा कर देता है उसकी माँग स्वतः पूरी हो जाती है, चाहे वह भगवान को भी न मानने वाला हो। दायित्व को पूरा कर देने पर माँग पूरी होगी —ऐसा प्रभु का

विधान ही है। इसपर कोई कहे कि हमारी माँग क्या है और दायित्व क्या है, तो कहना होगा कि सभी को सामर्थ्य की, स्वाधीनता की और रस की मांग होती है। इनका नाम, रूप अपनी विचारधारा से कोई कुछ भी रख ले परन्तु मांग तो मनुष्य-मात्र को इन तीनों की ही होती है और दायित्व भी सबका एक ही होता है। मिले हुए की ममता, आसक्ति छोड़कर उसका सदुपयोग करना तथा दीखने वाले की कामना का त्याग करके चाह-रहित होना, इस अपने दायित्व को पूरा कर देने पर हर पद्धति के मनुष्य की मांग पूरी हो जाती है। यह बात परम सत्य है और भगवान के मानने वाले जो आस्तिक मनुष्य हैं उनका एक और भी दायित्व होता है। वे सच्चे हृदय से प्रभु को अपना मान कर उन्हीं पर निर्भर होकर प्रभु के शरणागत हो जावें तो उनकी मांग भी पूरी हो जाती है और पहिले वाला दायित्व भी प्रभु की कृपा से पूरा हो जाता है। सो साधक को यदि अपने में सामर्थ्य का अनुभव होता हो, तो प्राप्त की ममता, आसक्ति छोड़ कर उसका सदुपयोग कर दें और अप्राप्त की कामनाओं को त्याग कर अचाह हो जावें और यदि आने में असमर्थता का अनुभव होता हो तो सुने हुए प्रभु में आस्था तथा विश्वासपूर्वक आत्मीयता करके उनके शरणागत हो जावें और यदि अपने में सामर्थ्य और विश्वास दोनों की कमी का ही अनुभव होता हो तो अपनी मांग की पूर्ति के लिए इतना व्याकुल हो जावें कि जब तक मांग पूरी न हो तब तक किसी हालत में भी चैन से न रहें। सो इन तीनों बातों में ही मनुष्य बड़भागी है और तीनों बातों से ही उसकी मांग पूरी हो जाती है। परन्तु सबसे शोचनीय दशा तो यह है कि स्वेच्छापूर्वक अपने जीवन में असाधनों को बनाये रख कर आंशिक साधन करते रहना और उसी में सन्तुष्ट रहना। इस दशा के रहते हुए किसी की मांग पूरी नहीं होती, यानी किसी का भी कल्याण नहीं होता, और न ऐसा हो ही सकता है। वह तो चौरासी के चक्कर में ही भटकता रहेगा। साधक या तो अपना दायित्व पूरा कर दे या प्रभु के शरणागत हो जावे तो उसका दायित्व भी प्रभु पूरा करेंगे या चैन से न रहे तब भी मांग पूरी होगी तथा उसका कल्याण होगा।

[मानव सेवा संघ (बाल मंदिर) की पुण्य तिथि पर पठित]—

हमारा बाल मन्दिर

★ सवितारानी चतुर्वेदी
कानपुर

बाल मन्दिर हमारा अमर ये रहे,
साधना के सुमन मुस्कराते रहें।

मूर्तियाँ त्याग-सेवा की साकार हों,
प्रेम के गीत जीवन से गाते रहें ॥

पुण्य अक्षय तृतीया के दिन हो गया,
बालिका राधिका रूप पाने लगीं।

दर्शनों के लिए भक्त जन आ गये,
भक्ति से गोद राधा खिलाने लगीं ॥

राग से मुक्त होने को अनुराग से,
साधकों ने पढ़ाया बड़े चाव से।

मातृ का रूप साकार श्रद्धा हुई,
साथ खाने खिलाने सुलाने लगी ॥

पूज्य स्वामी पिताजी हमें मिल गये,
हम सभी संघ गौरव बढ़ातीं रहें।

बाल मन्दिर हमारा अमर ये रहे,
साधना के सुमन मुस्कराते रहें ॥

वस्तुओं का तो निर्माण होता ही है,
व्यक्तियों का हो निर्माण इस विश्व में।

सब असाधन को तजने को साधक बनें।
व्यक्तियों का हो कल्याण इस विश्व में।।

जन्म पाया है मानव का, मानव बनें,
ये ही मानव का मानव को सन्देश है।

प्राप्त मानव का तन कर अमानव रहें,
उनसे अच्छे हैं पाषाण इस विश्व में ।।

प्रेम प्रभु के लिए त्याग अपने लिए,
सेवा जग के लिए कर दिखाते रहें ।।

बाल मन्दिर हमारा अमर ये रहे,
साधना के सुमन मुस्कराते रहें ।।

आज उपदेशकों की तो भरमार है,
आचरण में उतारें वे नर धन्य हैं ।

दूसरों के लिए सिर बहुत पीटते,
जो भी निज को सम्हालें वे नर धन्य हैं।।

डूबते को तो तिनका सहारा बहुत,
सत्य भवसिन्धु के हेतु जलयान है ।

जो भी परहित में निजहित समझते रहें,
आप उबरें उबारें वे नर धन्य हैं ।

सेवा मानव के हित संघ सन्देश है,
त्याग से प्रेम "सविता" वे पाते रहें ।

बाल मन्दिर हमारा अमर ये रहे,
साधना के सुमन मुस्कराते रहें ।।

विशाल हृदय सोकम साहु

(एक सच्ची घटना)

★कैप्टेन एस्. एम्. चन्द्र

कोटला गाँव में एक साहु रहते थे। उनके यहाँ लेन-देन का व्यवसाय होता था। साहु जाति के कुम्भकार थे। अतएव सामाजिक व्यवस्था यथावत् रखने के विचार से मुनीम लोग तो बैठक में गद्दी पर बैठ कर काम करते थे और साहु बाहर चबूतरे पर गौन बिछाकर बैठते और राम नाम जपा करते। उनके जाप का अपना ही रूप था। ढेरे पर ऊन बटा करते जिससे ध्यान एकाग्र रहता। साहु ब्याज को त्यौहारी और तकादे को राम-राम कहते थे। मनुष्य तो क्या पशु से भी आदर पूर्वक बोलते थे। उनके ये गुण आज तक समाज में स्मरणीय हैं।

एक दिन संध्या को बाहर दिशावर की किसी गद्दी का मुनीम साहु का पता पूछता हुआ आया। उसको आदरपूर्वक ठहराया और आने का कारण पूछा, तो उसने बताया कि साहु के यहाँ उसकी गद्दी से गुड़, चावल उधार आये हैं वह रुपये की वसूली को आया है। मुनीम लोगों ने बताया कि "हमारे यहाँ तो माल नहीं आया। आप भूलकर रहे हैं।" साहु सब बात सुन ही रहे थे, तत्काल अपने मुनीमजी से कहा, "मुनीमजी हमको बताने की याद नहीं रही। माल इनका आया है। इनका हिसाब चुकता कर दीजिये।" मुनीम जी ने हिसाब चुका दिया और रात को उनकी सुविधा, विश्राम तथा भोजन आदि की व्यवस्था कर दी। सवेरे दिशावर के मुनीम को आदर पूर्वक विदा किया और चलते वक्त उससे इतना ही कहा कि अब गुड़ चावल का काम बन्द कर दिया है, इसलिए किसी को मेरे नाम से उधार मत देना। मुनीम को संदेह तो हो गया था कि साहु के यहाँ माल नहीं आया है। किसी ने धोखा दिया है। इसलिए वह रुपया लेने को राजी नहीं हो रहा था। इस पर साहु ने उसको धीरज देते हुए समाधान कर दिया कि उसकी गद्दी ने मेरे नाम पर माल दिया है, अतएव मैं देनदार हूँ।

रुपये आपको लेने पड़ेंगे । बल्कि समय पर नहीं पहुँचने से आपको हैरान होना पड़ा, इसका मुझको खेद है, इसलिए और भी कि बात मेरे बस के बाहर की थी । राम-भजन की महिमा देखो कि थोड़े दिन बाद ही असली आदमी जो उधार ले गया था वह गद्दी पर रुपया देने पहुँचा । वहाँ जाकर उसको सब बात ज्ञात हुई, तो बहुत लजाया । गद्दी वालों ने परामर्श दिया कि अब उसको साहु को ही जाकर भुगतान करना चाहिए । अतएव लज्जा के कारण उसने अपने एक आदमी के हाथ पूरी रकम साहु के यहाँ भेजी और वह संध्या को साहु के यहाँ पहुँचा और गद्दी पर जाकर पूरी रकम मय ब्याज़ के जमा कराई । गद्दी पर उसके साथ कोई असाधारण व्यवहार नहीं हुआ । बल्कि उसको भी अन्य ग्राहकों की भाँति ही ठहराया गया और उसके रहने की व्यवस्था की गई । सवेरे चलते वक्त साहु ने उस मुनीम को इतना ही कहा कि "अपने मालिक को कहना कि माल लेने जाते वक्त ही यहाँ होकर जाने में सभी को सुविधा और नेकनामी रहती । माल लाने के पश्चात् यहाँ आने में बदनामी और परेशानी होती है ।"

यह अब से कोई सवासौ वर्ष की बात है । उस समय का सामाजिक वातावरण ऐसा था । साहु का नाम मोकम साहु था और वह आगरा जिला में फीरोजाबाद तहसील के कोटला गाँव के रहने वाले थे ।

अपने से बाहर कहीं अपना केन्द्र मत बनाओ, अन्यथा तुम गिर पड़ोगे । अपने आप में पूर्ण विश्वास रक्खो, अपने केन्द्र पर डटे रहो, कोई चीज तुम्हें टस से मस नहीं कर सकती ।

—स्वामी रामतीर्थ

ममता का त्याग

वर्तमान में दो बातें हमें अपने जीवन में दिखाई देती हैं—(१) जो करना चाहिये, वह होता नहीं।

(२) जो नहीं करना चाहिये, वह होता है।

इस समस्या का समाधान आवश्यक है। करने और होने के योग में, अहम्-पूर्ण अणु. जीवित रहता है।

(१) किये हुए का फल होता ही है। शरीर, वस्तु, परिस्थिति से ममता की है, इसी का फल है कि इसका चिन्तन होता है। (२) करना चाहते हैं प्रभु-चिन्तन, परन्तु प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार करना और उनसे आत्मीयता रखना अनावश्यक मालूम होता है। भजन करना आवश्यक मालूम होता है, पर होता नहीं है। एक ओर अपने गुणों का भोग, पर दूसरी ओर जो होना चाहिये, उसके न होने का पश्चात्ताप, इस मूल समस्या पर विचार कीजिये कि जिसका चिन्तन करना चाहते हैं उसका होता नहीं, और जिसका नहीं करना चाहते, उसका होता है।

१—भूतकाल में सुख का भोग किया है।

२—वर्तमान में ममता का त्याग नहीं है।

३—भूत के सुख-भोग का जीवन पर प्रभाव है।

इन तीन बातों से उसका चिन्तन होता है जिसका नहीं होना चाहिये, और इसी कारण सार्थक चिन्तन नहीं होता। परन्तु हम बलपूर्वक शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सहयोग से सार्थक चिन्तन करते हैं। फिर इनकी ममता कैसे टूटे? यह ज्ञान कैसे काम आवे कि हम शरीर नहीं हैं? ममता टूटे बिना उसका चिन्तन छूटे कैसे? जीवन का एक मौलिक विचारणीय प्रश्न है कि आप शरीर के सहयोग से सत्य की खोज करना चाहते हैं, यह संभव कैसे है? शरीर को स्वस्थ बनाये रखना चाहते हैं—यह विधान नया कहाँ से बनेगा? शरीर का नाश अनिवार्य है; न हो तो जिन्दगी नरक बन जाय। तो, शरीर के सहयोग से सत्य नहीं मिलता है।

शरीर के आधार पर साधन करना चाहेंगे, तो फिर उसकी ममता से छूटेंगे कैसे? और नहीं छूटेंगे तो

साधन-परायणता आयेगी नहीं और तब सिद्धि नहीं मिलेगी।

भौतिकवादी कहेंगे—कि मुझसे वह कर्म हो जाता है, जो नहीं करना चाहिये। आस्तिक कहेंगे—प्रभु में मन नहीं लगता। अध्यात्मवादी कहेगा—उसे तत्त्व-ज्ञान नहीं हुआ। क्यों ? साधन और सिद्धि को वर्तमान की वस्तु नहीं माना, साधन और सिद्धि को परिस्थिति पर निर्भर कर दिया। कोई व्यक्ति और परिस्थिति तुम्हारे काम नहीं आयेगी, इसे तो हम स्वीकार नहीं करते, वस्तु, अवस्था से ममता नहीं तोड़ते और कहते हैं कि भगवान में मन नहीं लगता, चिरशान्ति नहीं आती, स्वरूप में स्थिति नहीं होती, आदि-आदि। तो, भाई, यह साधन नहीं है। हम मानव हैं, हमारे सामने जीवन-मरण का प्रश्न है—हम कब तक इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में पड़े रहेंगे ? इस प्रश्न पर विचार करें। "दोष की उत्पत्ति न हो, गुणों का अभिमान न हो," परन्तु इसके विपरीत ऐसा होता है। यह जीवन में असाधन है। गुण का भोग और दोष की उत्पत्ति असाधन है। इसका कारण क्या है ? किसी-न-किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति से ममता है। इससे अभिमान और दीनता का दर्शन होता ही है। ममता के कारण यदि अपनी योग्यता, सामर्थ्य को अपना न मानें तो दीनता और अभिमान मिट जायगा। मन से ममता करली, फिर कहते हैं कि मन भगवान में लगता नहीं है। मन हमारा होकर भगवान में कैसे लगेगा ? फिर हम कहते हैं कि हमारा मन-प्राण सब भगवान का है। उसके बाद देखते हैं कि मन निर्विकल्प नहीं हुआ; झट साधन में विकल्प कर लेते हैं। यह दोष है। जिस चीज में ममता का दोष लगा है वह भगवान के काम नहीं आ सकती। अपनी ममता का त्याग पहली चीज है। फिर विकार कहाँ से रह गया ? तुम कहते हो कि हमने ममता का त्याग तो किया, पर भूत की स्मृत्तियाँ आती हैं। तो फिर अपने निर्णय पर डटे रहो—सोचलो वे मेरी नहीं हैं, भगवान की हैं। उनको शान्त देखना चाहते हो, अपने ढंग का देखना चाहते हो, उनकी उथल-पुथल से घबराते हो, यह भूल है। ऐसा मत करो। ऐसा करने वाला भगवान का प्रेम प्राप्त नहीं कर सकता। जो कुछ भी करने में समर्थ नहीं है, जिसके पास कोई साथी नहीं, कोई सामान नहीं, उसी को भगवान अपनाते हैं। असमर्थ से, जो कुछ नहीं कर सकता, उससे जो आवश्यक है, भगवान करवाते हैं। पर जो बहुत सा सामान लेकर बैठा है, उसका मन भगवान में नहीं

लगेगा। पहले वेसामान के बनो—जो कुछ है वह मेरा नहीं है, तब अपने सामने कुछ करने का प्रश्न नहीं है । तब प्रभु के समर्पित हो जाना है । फिर निश्चिन्त और निर्भय हो जाओ । तब प्रभु की प्रियता अपने आप आयेगी। निश्चिन्तता, सामर्थ्य की प्रतीक; निर्भयता, कर्तव्य की प्रतीक; प्रियता, रस की प्रतीक है । तीनों—(१) सामर्थ्य, (२) कर्तव्य-परायणता और (३) प्रियता, का फल है कि चित्त जहाँ लगना चाहिये वहाँ लग जाय जहाँ से हटना चाहिये वहाँ से हट जाय, अपने आप। जो नहीं होना चाहिये उसकी उत्पत्ति न हो और जो होना चाहिये वह स्वतः होने लगे । वर्तमान राग की निवृति हो जाय—नवीनराग की उत्पत्ति न हो। राग-रहित होने में समस्त दुःखों की निवृति है—यह प्रभु-प्रेम की अभिव्यक्ति है, और यह अनन्त-रस का हेतु है। भोग का रस भोग का हेतु है। योग का रस शान्ति का हेतु है। बोध का रस स्वाधीनता का हेतु है। प्रियता का रस अनन्त रस का हेतु है।

किसी एक रस की उपलब्धि में सभी रसों की उपलब्धि होती है । तो, मानव-जीवन की तीन विभूतियाँ हैं,—निश्चिन्तता, निर्भयता और प्रियता। तो क्या इनसे भी हम वंचित रहेंगे ? नहीं । तो फिर निश्चिन्ता, प्रियता आयेगी कैसे ? प्रभु की आत्मीयता, निर्भयता कैसे आयेगी ? ममता के त्याग से ।

(i) विवेकपूर्वक ममता का त्याग।

(ii) विश्वासपूर्वक प्रभु में आत्मीयता की स्वीकृति ।

इनसे निश्चिन्तता, निर्भयता और प्रिय.ा ये तीनों विभूतियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

—*—

कर्म-चक्र

—कैप्टेन एस. एम. चन्द्रा (रिटायर्ड)

रोगी ने डाक्टर को घुटना दिखाकर बताया कि इसमें बहुत पीड़ा है। डाक्टर ने भली भाँति निरीक्षण के उपरान्त निर्णय दिया कि कोई बात नहीं है, वृद्धावस्था के कारण पीड़ा है, चिंता का कोई कारण नहीं । इस पर रोगी ने डाक्टर को बताया कि उसका दूसरा घुटना भी तो उतना ही वृद्ध है, फिर भी वह स्वस्थ है । डाक्टर इस तर्क को सुनकर मुस्कराया और बताया कि 'यद्यपि दोनों घुटने अवस्था में समान हैं, फिर भी रोगी ने जीवन भर जहाँ एक पग रखा है, दूसरा वहाँ नहीं रखा। आगे, पीछे या बराबर सभी जगह रखा है, उसी जगह नहीं रखा । यही कारण है कि एक में पीड़ा है तो एक में फोड़ा, एक में चोट है, तो एक में मोच और यह सब स्वाभाविक है—इतना स्वाभाविक कि इसका भान भी नहीं होता। एक में चाहे कुछ हो और दूसरे में जो हो, इससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। व्यक्ति के अस्तित्व और कर्मफल के सिद्धान्त का यह सरल तथा स्पष्ट निरूपण है । इसी स्वयं-सिद्ध सत्य का एक निष्कर्ष यह है कि बन्दा अपने किये का स्वयं ही उत्तरदायी है, किसी से शिकायत का कारण नहीं, बल्कि मालिक का शुकर है कि इतने से ही छूटे, स्थिति अधिक खराब भी तो हो सकती थी।

कर्मफल जो तत्काल न मिलकर भविष्य के लिए जमा हो जाता है उसको भाग्य कहते हैं । इसकी अदायगी का सिक्का (Currency) बुद्धि है । जिस प्रकार जहाज का कम्पास सैट हो जाने पर वह उसी के अनुसार चलता रहता है, उसी प्रकार हमारी बुद्धि भी भाग्यानुसार सैट हो जाती है और हमारी क्रियाएँ भी उसी के अनुसार होती हैं। समय पर सफलता या विफलता उसका परिणाम होता है । इसीको रहीम कवि ने कहा है कि—

रहिमन जस भवितव्यता
तैसी मिलै सहाय,
आपु न आवै ताहि पै
ताहि तहाँ लै जाय ।
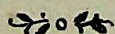
प्रश्न—व्यक्ति का सौन्दर्य क्या है ?

उत्तर—निर्विकारता के समान अन्य कोई सौन्दर्य नहीं, अपितु निर्विकारता ही वास्तविक सौन्दर्य है। जिस व्यक्ति के द्वारा समाज के अधिकार अपहृत नहीं होते और जो स्वयं अधिकार-लालसा से रहित है, वस्तुतः वही सुन्दर है।

"जीवन-दर्शन"

संघ का मुख-पत्र

आवश्यक नियम

१–**'जीवन-दर्शन'** प्रत्येक मास के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित हुआ करेगा। इसका वर्ष १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक रहेगा। बीच में ग्राहक बनने वालों के लिये भी वर्ष १ जनवरी से ही प्रारम्भ होगा।

२–पत्र का उत्तर तथा लेख वापस पाने के लिये आवश्यक डाक-टिकट भेजें। पत्र-व्यवहार करते समय **कृपया अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें।**

३–पता बदलने के लिए एक मास पूर्व लिखना चाहिए।

४–जीवन-दर्शन-सञ्चालन की योजना को सफल बनाने के लिए जो महानुभाव अपने सामर्थ्य के अनुसार १०१), २५१), ५०१) या ११०१) रु० प्रदान करेंगे, वे इसके संस्थापक सदस्य कहलायेंगे। उनकी सेवा में पत्रिका आजीवन भट-स्वरूप, निःशुल्क भेजी जाती रहेगी।

उक्त रकमें एक वर्ष की अवधि में किश्तोंमें भी पूरीकी जा सकती हैं।

५–पत्रिका सम्बन्धी सारा पत्र-व्यवहार निम्नलिखित पते से करना चाहिए।

व्यवस्थापक :
'जीवन-दर्शन' कार्यालय,
मानव सेवा सङ्घ, वृन्दावन (मथुरा)

वार्षिक मूल्य : ५ रुपये] [एक प्रति का : ४५ पैसे

मुख्य सम्पादक : हनुमन्तसिंह

License No. 60 Regd. No. L–564
Licensed to Post without Pre-Payment.

आदर्श और आचरण

(मिलान करके देखिए)

आज बाङ्गला देश में जो कुछ हो रहा है उसको देखते हुए इस्लाम मजहब की शान्ति, मोहब्बत और सेवा की नसीहतों की ओर बरबस ध्यान खिंच जाता है। 'इस्लाम' शब्द का अर्थ ही है खुदा की शरण लेना, शान्ति चाहना। कुरान शरीफ की ये आयतें कितनी मार्मिक हैं।

'अऊजु बिल्लाहि मिनश शैत्वानिर् रजीम।
बिस्मिल्लाहिर् रहूमानिर रहीम।
अल् हम्दु लिल्लाहि रबिबल् आलमीन।
अर् रहमानिर् रहीम, मालिकि यौमिद् दीन।'

यानी, शरण लेता हूँ मैं अल्लाह की, पापात्मा शैतान से बचने के लिये। पहले ही पहल नाम लेता हूँ अल्लाह का, जो निहायत रहम वाला मेहरबान है। हर तरह की स्तुति भगवान के ही योग्य है। वह सारे विश्व का पालने-पोसने वाला और उद्धारक, परम कृपालु, परम दयालु है।

इस्लाम धर्म में नमाज [प्रार्थना] और खैरात [दान] पर बहुत जोर दिया गया है। सबसे भाईचारे से व्यवहार करने की नसीहत दी गई है। स्त्रियों को, और खासतौर पर माँ को, बहुत ऊँचा दर्जा दिया गया है। कहा गया है कि जन्नत [स्वर्ग] माँ के कदमों में लोटता है।

कुरान शरीफ में पैगम्बर मोहम्मद ने आदेश दिया है कि 'न तो तुम किसी पर जुल्म करो, न कोई तुम पर जुल्म करे।' 'तुम दुनियाँ में फसाद न करो, किसी पर ज्यादती न करो।' 'माफ करो, दर गुजर करो, बख्श दो।' 'उनकी तरफ न झुको जो जालिम हैं।' जब किसी ने मोहम्मद साहब से पूछा कि मेरा दिल बहुत सख्त है मैं क्या करूँ? तो जवाब मिला—"अनाथों के सिर पर हाथ फेरा करो, और भूखों को खाना खिलाया करो।"

मुद्रक व प्रकाशक—श्री गोविन्दजी, भू. पू. प्रधान मन्त्री, मानव सेवा सङ्घ के लिये हर्ष गुप्त द्वारा राष्ट्रीय प्रेस, डैम्पियर नगर, मथुरा में मुद्रित।